श्रीअरविन्द कर्मधारा

जुलाई-अगस्त 2024

(विशेषांक)

श्रीअरविन्द आश्रम
दिल्ली शाखा का मुखपत्र
(जुलाई-अगस्त 2024)
अंक - 4
संस्थापक
श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर 'फकीर'
सम्पादन - अपर्णा रॉय
विशेष परामर्श समिति
सुश्री तारा जौहर, विजया भारती
ऑनलाइन पब्लिकेशन
ऑफ
श्रीअरविन्द आश्रम, दिल्ली शाखा
(निःशुल्क उपलब्ध)
कृपया सब्सक्राइब करें-
saakarmdhara@rediffmail.com
कार्यालय
श्रीअरविन्द आश्रम, दिल्ली-शाखा
श्रीअरविन्द मार्ग, नई दिल्ली-110016
दूरभाषः 26567863, 26524810
आश्रम वैबसाइट
(www.sriaurobindoashram.net)

प्रार्थना और ध्यान

१६ अगस्त, १९१६

ओ प्रेम ! दिव्य प्रेम !

तू मेरी सत्ता मात्र को परिपूर्ण कर रहा है और सब ओर से उमड़ रहा है।

मैं 'तू' हूँ और 'तू' मैं;

मैं सब जीवों-में, सब वस्तुओं में -पवन के हल्के झोंके से लेकर

उस तेजपुंज सूर्य तक में जो हमें प्रकाश देता है और तेरा प्रतीक है-तुझे देखती हूँ।

ओ तू जिसे मैं समझ नहीं सकती,

मैं अत्यंत पवित्र भक्ति की नीरवता- में तेरी पूजा करती हूँ।

विषय-सूची

- सम्पादकीय 5
- आयें प्रभु के द्वार 8
- श्रीमाँ तथा श्रीअरविन्द 9
- हमारे अस्तित्व का उद्देश्य 11
- रूपान्तर 13
- आधुनिक मन और गीता 14
- व्यक्ति की नियति 16
- हृदय के अन्दर ज्योति जगाओ 23
- सावित्री(सर्ग 1 पर्व 5) 24
- यद्यपि मेरे चारों ओर 28
- श्रीअरविन्द की शिक्षा एवं साधना-पद्धति 29
- श्रीअरविन्द विदेशियों की दृष्टि में 32
- सृष्टि का दुःख-दर्द भगवान् अपने ऊपर लेते हैं 36
- मानव जीवन के विकास में दुःख की भूमिका 37
- खाली समय का उपयोग करना 43
- भारतीय संस्कृति के एक बुद्धिवादी आलोचक-3 44
- आश्रम गतिविधियाँ 50

सम्पादकीय

प्रिय पाठक-गण श्रीअरविंद का 152वां जन्म दिवस हम सबके लिए प्रेरणा, हर्ष और उत्साह लेकर आता आया है। 15 अगस्त की पावन तिथि को श्री अरविंद के जन्म तथा भारत वर्ष की स्वतंत्रता के लिए चुना जाना क्या एक संयोग मात्र है ? इस तिथि के महत्व और इसकी प्रतीकात्मकता को आइए श्रीअरविंद की लेखनी से ही समझें---

[श्रीअरविंद ने यह संदेश भारत की स्वतंत्रता की पूर्व संध्या पर प्रसारित करने के लिए ऑल इंडिया रेडियो, तिरुचिरापल्ली, भारत के अनुरोध पर लिखा था। यह वह संदेश है जो 14 अगस्त, 1947 को प्रसारित किया गया था। यह आज भी विशेष प्रासंगिकता और महत्व रखता है।]

"15 अगस्त, 1947 स्वतंत्र भारत का जन्मदिन है। यह उसके लिए एक पुराने युग का अंत और एक नए युग की शुरुआत का प्रतीक है। लेकिन हम अपने जीवन और स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में कार्य करके इसे पूरे विश्व के लिए, मानवता के राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भविष्य के लिए एक नए युग की शुरुआत की महत्वपूर्ण तिथि बना सकते हैं।

15 अगस्त मेरा अपना जन्मदिन है और यह मेरे लिए स्वाभाविक रूप से संतुष्टिदायक है कि इसे इतना महत्वपूर्ण माना गया। मैं इस संयोग को एक संयोग के रूप में नहीं, बल्कि उस दिव्य शक्ति की स्वीकृति और मुहर के रूप में लेता हूँ जो मेरे जीवन की शुरुआत के साथ मेरे कदमों का मार्गदर्शन करती रही है। वास्तव में, इस दिन मैं लगभग सभी विश्व-आंदोलनों को देख सकता हूँ जिन्हें मैं अपने जीवनकाल में पूरा होते देखना चाहता था, हालांकि तब वे अवास्तविक सपने लगते थे, जो फलित हो रहे हैं या उपलब्धि की ओर बढ़ रहे हैं। इन सभी आंदोलनों में स्वतंत्र भारत एक बड़ी भूमिका निभा सकता है और अग्रणी स्थान ले सकता है।

इनमें से पहला सपना एक क्रांतिकारी आंदोलन था जो एक स्वतंत्र और एकजुट भारत का निर्माण करेगा। आज भारत स्वतंत्र है लेकिन उसने एकता हासिल नहीं की है। एक पल में ऐसा लगा कि जैसे मुक्ति के अपने ही कदम में वह ब्रिटिश विजय से पहले के अलग-अलग राज्यों की अराजकता में वापस चला जाएगा। लेकिन सौभाग्य से अब ऐसा लगता है कि यह खतरा टल जाएगा और एक बड़ा और शक्तिशाली, हालांकि अभी तक पूर्ण संघ नहीं बना है, स्थापित हो जाएगा। साथ ही, संविधान सभा की बुद्धिमानी से कठोर नीति ने यह संभव बना दिया है कि दलित वर्गों की समस्या बिना किसी विभाजन या दरार के हल हो जाएगी। लेकिन हिंदू और मुसलमानों में पुराना सांप्रदायिक विभाजन अब देश के स्थायी राजनीतिक विभाजन में बदल गया है। उम्मीद की जानी चाहिए कि इस स्थापित तथ्य को हमेशा के लिए या एक अस्थायी उपाय से अधिक कुछ के रूप में स्वीकार नहीं किया जाएगा। क्योंकि अगर यह कायम रहा, तो भारत गंभीर रूप से कमजोर हो सकता है, यहाँ तक कि अपंग भी हो सकता है: नागरिक संघर्ष हमेशा संभव रह सकता है, यहाँ तक कि एक नया आक्रमण और विदेशी विजय भी संभव है। भारत के आंतरिक विकास और

समृद्धि में बाधा आ सकती है, राष्ट्रों के बीच उसकी स्थिति कमज़ोर हो सकती है, उसका भाग्य खराब हो सकता है या यहाँ तक कि निराश भी हो सकता है। ऐसा नहीं होना चाहिए; विभाजन अवश्य समाप्त होना चाहिए। हमें आशा करनी चाहिए कि यह स्वाभाविक रूप से हो सकता है, न केवल शांति और सद्भाव की आवश्यकता बल्कि सांझा कार्रवाई की आवश्यकता की बढ़ती मान्यता से, सांझा कार्रवाई के अभ्यास से और उस उद्देश्य के लिए साधनों के निर्माण से। इस तरह अंततः किसी भी रूप में एकता आ सकती है - सटीक रूप का व्यावहारिक महत्व हो सकता है लेकिन मौलिक नहीं। लेकिन किसी भी तरह से, विभाजन अवश्य समाप्त होना चाहिए; एकता अवश्य प्राप्त होगी और होगी, क्योंकि यह भारत के भविष्य की महानता के लिए आवश्यक है।

दूसरा सपना एशिया के लोगों के पुनरुत्थान और मुक्ति तथा मानव सभ्यता की प्रगति में उनकी महान भूमिका की ओर उनकी वापसी का था। एशिया का उदय हो चुका है; इसका बड़ा हिस्सा अब पूरी तरह से स्वतंत्र है या इस समय मुक्त हो रहा है: इसके अन्य अभी भी अधीन या आंशिक रूप से अधीन हिस्से स्वतंत्रता की दिशा में किसी भी संघर्ष से गुजर रहे हैं। बस थोड़ा सा काम करना बाकी है और वह आज या कल किया जाएगा। वहाँ भारत को अपनी भूमिका निभानी है और उसने इसे उस ऊर्जा और क्षमता के साथ निभाना शुरू कर दिया है जो पहले से ही उसकी संभावनाओं के माप और राष्ट्रों की परिषद में उसके स्थान को इंगित करती है।

तीसरा स्वप्न था विश्व-संघ का निर्माण, जो समस्त मानवजाति के लिए अधिक न्यायपूर्ण, उज्ज्वल और श्रेष्ठ जीवन का बाह्य आधार बनेगा। मानव जगत का एकीकरण हो रहा है; एक अपूर्ण पहल संगठित है, लेकिन भारी कठिनाइयों से जूझ रही है। लेकिन गति है और इसे अवश्य ही बढ़ाना और जीतना होगा। यहाँ भी भारत ने प्रमुख भूमिका निभानी शुरू कर दी है और यदि वह उस व्यापक राजनीति का विकास कर सके, जो वर्तमान तथ्यों और तात्कालिक संभावनाओं तक सीमित न हो, बल्कि भविष्य को देखे और उसे निकट लाए, तो उसकी उपस्थिति धीमे और डरपोक तथा साहसिक और तीव्र विकास के बीच सारा अंतर पैदा कर सकती है। कोई आपदा हस्तक्षेप कर सकती है और जो किया जा रहा है, उसे बाधित या नष्ट कर सकती है, लेकिन तब भी अंतिम परिणाम निश्चित है। क्योंकि एकीकरण प्रकृति की आवश्यकता है, एक अपरिहार्य गति है। राष्ट्रों के लिए भी इसकी आवश्यकता स्पष्ट है, क्योंकि इसके बिना छोटे राष्ट्रों की स्वतंत्रता किसी भी क्षण खतरे में पड़ सकती है और बड़े और शक्तिशाली राष्ट्रों का जीवन भी असुरक्षित हो सकता है। इसलिए एकीकरण सभी के हित में है, और केवल मानवीय मूर्खता और मूर्खतापूर्ण स्वार्थ ही इसे रोक सकता है; लेकिन ये प्रकृति और ईश्वरीय इच्छा की आवश्यकता के विरुद्ध हमेशा के लिए खड़े नहीं रह सकते। लेकिन एक बाहरी आधार पर्याप्त नहीं है; एक अंतरराष्ट्रीय भावना और दृष्टिकोण विकसित होना चाहिए, अंतरराष्ट्रीय रूप और संस्थाएँ उभरनी चाहिए, शायद दोहरी या बहुपक्षीय नागरिकता, इच्छा से आदान-प्रदान या संस्कृतियों का स्वैच्छिक विलय जैसे विकास। राष्ट्रवाद ने खुद को पूरा कर लिया होगा और अपनी उग्रता खो दी होगी और अब ये चीज़ें आत्म-संरक्षण और अपने दृष्टिकोण की समग्रता के साथ असंगत नहीं होंगी। एकता की

एक नई भावना मानव जाति को जकड़ लेगी।

एक और स्वप्न, विश्व को भारत का आध्यात्मिक उपहार, पहले ही शुरू हो चुका है। भारत की आध्यात्मिकता यूरोप और अमेरिका में लगातार बढ़ रही है। यह आंदोलन बढ़ेगा; समय की आपदाओं के बीच अधिक से अधिक आँखें आशा के साथ उसकी ओर मुड़ रही हैं और न केवल उसकी शिक्षाओं, बल्कि उसकी मानसिक और आध्यात्मिक साधना का भी सहारा बढ़ रहा है।

अंतिम स्वप्न विकास में एक कदम था जो मनुष्य को उच्चतर और विशाल चेतना तक ले जाएगा और उन समस्याओं का समाधान आरंभ करेगा जो उसे तब से उलझन में डालती और परेशान करती रही हैं जब से उसने सोचना और व्यक्तिगत पूर्णता तथा एक परिपूर्ण समाज के बारे में सपना देखना आरंभ किया था। यह अभी भी एक व्यक्तिगत आशा और एक विचार है, एक आदर्श है जो भारत और पश्चिम दोनों में दूरदर्शी मनों पर अपना प्रभाव डालना आरंभ कर चुका है। इस मार्ग में आने वाली कठिनाइयाँ किसी भी अन्य क्षेत्र के प्रयास की तुलना में अधिक विकट हैं, लेकिन कठिनाइयों को दूर करने के लिए बनाया गया था और यदि सर्वोच्च इच्छा है, तो उन्हें दूर किया भी जाएगा। यहाँ भी, यदि यह विकास होना है, क्योंकि इसे आत्मा और आंतरिक चेतना के विकास के माध्यम से आगे बढ़ना होगा, तो पहल भारत से आ सकती है और, हालांकि इसका दायरा सार्वभौमिक होना चाहिए, केंद्रीय आंदोलन उसका हो सकता है।

भारत की मुक्ति की इस तिथि में मैंने यही बात रखी है; यह आशा कितनी सार्थक होगी, यह नये और स्वतंत्र भारत पर निर्भर करता है। उसकी सेवा से बढ़कर कुछ भी प्रिय नहीं है किसी राष्ट्र के इतिहास में ऐसे समय आते हैं जब ईश्वर उसके सामने एक कार्य, एक लक्ष्य रखता है, जिसके लिए अन्य सब कुछ, चाहे वह अपने आप में कितना ही उच्च और महान क्यों न हो, त्याग करना पड़ता है। हमारी मातृभूमि के लिए अब ऐसा समय आ गया है, जब उसकी सेवा से बढ़कर कुछ भी प्रिय नहीं है, जब अन्य सब कुछ उसी लक्ष्य की ओर निर्देशित किया जाना है। यदि तुम अध्ययन करोगे, तो उसके लिए अध्ययन करोगे; अपने शरीर, मन और आत्मा को उसकी सेवा के लिए प्रशिक्षित करो। तुम अपना जीविकोपार्जन करोगे ताकि तुम उसके लिए जी सको। तुम विदेश जाकर विदेशी भूमि पर जाओगे ताकि तुम ज्ञान लेकर आ सको जिससे तुम उसकी सेवा कर सको। कार्य करो ताकि वह समृद्ध हो। कष्ट उठाओ ताकि वह आनंदित हो। सब कुछ उस एक ही सलाह में समाहित है।"

श्रीअरविंद के इस प्रेरक संदेश के साथ ही यह दर्शन दिवस हम सबके अंदर उनकी शिक्षाओं को अपने जीवन में उतारने और उनका अनुशीलन करने की तत्परता उत्पन्न करे, इसी शुभेच्छा के साथ श्रीअरविंद कर्मधारा का यह नया अंक आपके सामने प्रस्तुत है। आशा है इसके अध्ययन के द्वारा हम और गहराई से श्रीअरविन्द और श्रीमाँ को अपने जीवन में उतारने या उनके सान्निध्य को दिन प्रतिदिन उपलब्ध करने के लिए जागरुक रहेंगे ।

हार्दिक शुभकामनाओं के साथ - **अपर्णा**

आयें प्रभु के द्वार

सुमित्रानन्दन पन्त

आयें प्रभु के द्वार!
हतभोग, हताश, शक्ति है,
काम क्रोध मद में आसक्ति है,
आयें वे, आयें वे प्रभु के द्वार!

बहती है जिनके चरणों में पतितपावनी
धार!
जो भू के, मन के वासी हैं,
स्त्री धन जन यश फल आशी हैं,
आयें वे, आयें वे प्रभु के द्वार!

प्रभु करुणा के, महिमा के हैं मेघ
उदार!
पथिक ना जो आगे बढ़ सकते
सुख में थकते, दु:ख में थकते,
टेढ़े मेढ़े कुंठित लगते,
आयें वे, आयें वे प्रभु के द्वार!

पूर्ण समर्पण कर दें प्रभु को, लेंगे सकल
सँवार!
सब अपूर्ण खण्डित इस जग में,
फूलों से काँटे ही मग में,
मृत्यु साँस में, पीड़ा रग में,
आयें वे, आयें वे प्रभु के द्वार!

केवल प्रभु की करुणा ही है अक्षय,
पूर्ण, उदार!
आयें प्रभु के द्वार!

श्रीमाँ तथा श्रीअरविन्द

एक ही चेतना

श्रीमाँ की चेतना और मेरी चेतना के बीच का विरोध पुराने दिनों का आविष्कार था (जिसका कारण मुख्यता 'क्ष' , 'त्र' तथा उस समय के अन्य व्यक्ति थे)। यह विरोध उस समय पैदा हुआ जब आरम्भ में यहाँ रहने वाले लोगों में से कुछ श्रीमाँ को पूर्ण रूप से नहीं पहचानते थे या उन्हें स्वीकार नहीं करते थे और फिर उन्हें पहचान लेने के बाद भी वे इस निरर्थक विरोध पर अड़े रहे और उन्होंने अपने-आपको और दूसरों को बड़ी हानि पहुँचायी। श्रीमाँ की और मेरी चेतना एक ही है, एक ही भागवत चेतना दोनों में है, क्योंकि लीला के लिए यह आवश्यक है। श्रीमाँ के ज्ञान और उनकी शक्ति के बिना, उनकी चेतना के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति सचमुच उनकी चेतना को अनुभव करता है तो उसे वैसे ही श्रीमाँ की उपस्थिति मेरे पीछे भी अनुभव होगी। यदि इस प्रकार भेद किया जाये (उन लोगों के मन इन चीज़ों को इतने प्रबल रूप में जो आकार दे देते हैं उन्हें तो मैं एक ओर ही छोड़ देता हूँ), तो भला सत्य अपने-आपको कैसे स्थापित कर सकता है, सत्य की दृष्टि से ऐसा कोई भेद नहीं है।

एक ही शक्ति

क्या आपके कार्य तथा श्रीमाँ के कार्य में कोई अन्तर है, मेरा मतलब है कि शक्ति के प्रभाव में क्या कोई अन्तर है?

नहीं, यह एक ही शक्ति है।

निस्सन्देह तुम्हारा यह कहना सही है कि हम एक हैं और जो दिया जाता है वह हम दोनों की ओर से होता है। अगर मैं दूँ तो उसके साथ श्रीमाँ की शक्ति भी होती है, अन्यथा साधक कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकेगा, और अगर श्रीमाँ देती हैं तो मेरा सहारा उसके साथ होता है और उसके साथ मेरा तथा श्रीमाँ का प्रकाश भी होता है। यह एक अविभाज्य क्रिया के दो पहलू हैं, एक पहलू दूसरे को अपने अंदर समाये रखता है। श्रीमाँ की शक्ति ही आगे बढ़ाती है, साथ ही शान्ति भी बनी रहती है।

व्यक्ति को जो कुछ श्रीमाँ से प्राप्त होता है, वह मुझसे भी प्राप्त होता है, उसमें कोई भेद नहीं है। उसी तरह, अगर मैं कुछ देता हूँ तो वह साधक के पास श्रीमाँ की शक्ति के द्वारा जाता है।

एक ही पथ

.....श्रीमाँ की चेतना भागवत 'चेतना' है और उससे जो 'प्रकाश' निकलता है वह भागवत सत्य का प्रकाश है; वे जिस 'शक्ति' को नीचे उतार रही हैं वह भागवत 'सत्य' की शक्ति है। जो

श्रीमाँ के प्रकाश को ग्रहण करता और स्वीकार करता तथा उसी में निवास करता है, वह मानसिक, प्राणिक और भौतिक सभी स्तरों पर सत्य को देखना प्रारम्भ कर देगा। जो कुछ अदिव्य है उसका वह त्याग कर देगा। अदिव्य है मिथ्यात्व, अज्ञान, अन्धकारमयी शक्तियों का प्रमाद; वह सब अदिव्य है, जो धुँधला है, जो श्रीमाँ के 'सत्य', उनके प्रकाश और उनकी शक्ति को मानने को अनिच्छुक है। इसी कारण मैं तुमसे हमेशा कहता हूँ कि श्रीमाँ के तथा उनके 'प्रकाश' और उनकी 'शक्ति' के साथ सतत सम्पर्क में बने रहो, क्योंकि तभी तुम अस्तव्यस्तता और अन्धकार से बाहर निकल कर उस 'सत्य' को पा सकते हो जो ऊपर से उतरता है।

जब हम एक विशेष अर्थ में श्रीमाँ के 'प्रकाश' अथवा मेरे 'प्रकाश' की चर्चा करते हैं, हम एक विशेष गुह्य क्रिया की बात कर रहे होते हैं-हम अमुक ज्योतियों की बात करते हैं जो अतिमानस से आती हैं।

इस क्रिया में माँ का सफ़ेद 'प्रकाश' अथवा मेरा 'प्रकाश' होता है जो पवित्र करता, ज्योतित करता, 'सत्य' के समस्त सारतत्त्व और शक्ति को उतार लाता है और रूपान्तर को सम्भव बनाता है। वस्तुतः जो भी सत्य ऊपर से अवतरित होता है, उच्चतम भागवत 'सत्य' से आता है, वह माँ का ही सत्य है। श्रीमाँ के पथ और मेरे पथ में कोई अन्तर नहीं है। हम लोगों का पथ एक है और हमेशा एक ही रहा है, वह पथ जो अतिमानसिक रूपान्तर और भागवत सिद्धि की ओर ले जाता है। न केवल अन्त में, बाल्कि आरम्भ से ही एक ही पथ रहा है। इस तरह के विभाजन और विरोध को रखने का प्रयास करना, यानी श्रीमाँ को एक ओर और मुझे दूसरी ओर-एकदम विपरीत या एकदम भिन्न तरफ़ रखना, यह तो हमेशा 'मिथ्यात्व' की शक्तियों की चालाकी रही है जब वे किसी साधक को सत्य तक पहुँचने से रोकना चाहती हैं। अपने मन से इन सभी मिथ्यात्वों को निकाल बाहर करो।

यह जानो कि श्रीमाँ का प्रकाश और शक्ति 'सत्य' का प्रकाश और शक्ति हैं; हमेशा श्रीमाँ के प्रकाश और शक्ति के सम्पर्क में बने रहो, तभी तुम भागवत सत्य में विकसित हो सकते हो।

मैंने पहले भी लिखा है कि माँ और मेरे बीच भेद करना और यह कहना कि हमारे भिन्न पथ हैं या हमारे भिन्न लक्ष्य हैं एकदम से भ्रान्तिपूर्ण है। हमारा पथ समान है; हमारा लक्ष्य भी समान है वह है, अतिमानसिक भगवान्।

श्रीअरविन्द के बारे में जानने या उनसे मिलने से पूर्व श्रीमाँ योग कर रही थी, और उनकी साधना की रूप-रेखाएँ स्वतन्त्र रूप से किन्तु एक ही नीति का अनुगमन कर रही थीं। जब वे मिले तब उन्होंने साधना को पूर्ण बनाने में एक –दूसरे की सहायता की। जिसे श्रीअरविन्द का योग कहा जाता है वह श्रीअरविन्द और श्रीमाँ का संयुक्त सृजन है। वे अब पूर्ण रूप से तदात्म हैं। आश्रम में साधना तथा समस्त व्यवस्था सीधे श्रीमाँ के द्वारा की जाती है, श्रीअरविन्द पीछे से उन्हें अवलम्ब देते हैं। जो यहाँ योग-साधना के लिए आते हैं उन सबको श्रीमाँ को आत्म-समर्पण करना पड़ता है, और वे हमेशा उनकी सहायता करती हैं तथा उनके आध्यात्मिक जीवन का निर्माण करती हैं।

हमारे अस्तित्व का उद्देश्य

श्रीअरविन्द

इस 'एकमेव' को अपने आन्तरिक रूपों और बाहरी प्रकृति में देखना, जानना, वही बन जाना और उसे ही चरितार्थ करना-यह हमेशा से हमारा गुह्य लक्ष्य रहा है और अब हमारे मूर्त अस्तित्व का यह सचेतन उद्देश्य है। अपनी सत्ता के सभी भागों में और साथ ही हमारा विभाजक मन जिसे हमारी सत्ता के बाहर देखता है, उन सब में उपस्थित एकमेव के बारे में सचेतन होना – यही है हमारी व्यक्तिगत चेतना की परिपूर्ति अथवा उसका चरमोत्कर्ष। उस 'एकमेव' के द्वारा अधिकृत होना और अपने अन्दर तथा सभी वस्तुओं के अन्दर उसे अपने अधिकार में करना - यही है समस्त राजत्व और प्रभुत्व।

सक्रियता और निष्क्रियता, शान्ति और शक्ति, एकता और विभेद के सभी अनुभवों में उसका आनन्द उठाना यही है वह प्रसन्नता जिसे जीव, अर्थात् जगत् में अभिव्यक्त् वैयक्तिक अन्तरात्मा खोज रही है, टटोल रही है। यही है पूर्णयोग के उद्देश्य की समस्त व्याख्या; यही है अपनी व्यक्तिगत अनुभूति में उस सत्य को उजागर करना जिसे वैश्व 'प्रकृति' ने अपने अन्दर छिपा लिया था और अब उसे उद्घाटित करने के प्रयास में जुटी हुई है। यही है मानव आत्मा का भागवत आत्मा में रूपान्तरण, उसके प्राकृत जीवन का भागवत जीवन में परिवर्तन।

पूर्ण उपलब्धि की ओर बढ़ने का निश्चिततम मार्ग है - इस भव्य रहस्य के स्वामी को खोज निकालना जो हमारे अन्दर बसे हुए हैं, अपने-आपको निरन्तर उस भागवत 'शक्ति' की ओर खुला रखना जो एक ही साथ भागवत 'प्रज्ञा' और 'प्रेम' भी है और उसमें यह श्रद्धा-विश्वास रखना कि वह हमारा रूपान्तरण सिद्ध करे। लेकिन शुरू-शुरू में अहंकारी चेतना के लिए इसे करना बहुत ही कठिन होता है। और अगर वह इसे कुछ हद तक कर भी ले, फिर भी इसे पूरी तरह से और अपनी प्रकृति के हर पहलू में सम्पन्न करना बहुत अधिक कठिन हो जाता है। शुरू-शुरू में यह हमारे अभ्यासगत् अहंकारी विचारों, संवेदनों के कारण और इस कारण भी कठिन हो जाता है कि उन राजमार्गों के बारे में हमें कुछ नहीं पता होता जिनसे होकर हम आवश्यक अन्तर्दर्शनों तक पहुँच सकें। बाद में यह इसलिए कठिन हो जाता है कि अहंकार के मेघों से घिरी आत्मा के लिए यह आसान नहीं होता कि वह इस पथ पर आवश्यक श्रद्धा, समर्पण और साहस को प्राप्त कर सके।

भागवत क्रिया वह क्रिया नहीं है जिसकी अहंकारी मन कामना करता या जिसका अनुमोदन करता हो; क्योंकि सत्य तक पहुँचने के लिए वह भूल-भ्रान्ति का, परमानन्द तक पहुँचने के लिए दुःख-दर्द का, पूर्णता तक पहुँचने के लिए अपूर्णता का प्रयोग करता है। अहंकार यह देख नहीं पाता कि किस ओर उसका मार्गदर्शन किया जा रहा है; वह तो मार्गदर्शन से विद्रोह करता है,

भरोसा खो देता है, साहस छोड़ बैठता है।

इन असफलताओं का कोई महत्त्व नहीं; क्योंकि हमारे अन्दर विराजमान भागवत 'पथ-प्रदर्शक' हमारे विद्रोहों से अप्रसन्न नहीं होते, हमारी श्रद्धा के अभाव से हतोत्साह नहीं होते या हमारी दुर्बलताओं से घृणा नहीं करते; उनके अन्दर माँ की पूर्ण ममता और गुरु का पूरा धीरज है।

रही बात शरीर के निम्नतर भागों की, तो उनका प्रतिनिधित्व करता है - भौतिक और बाहरी प्राण। इन्हें भेदना बाकी है ताकि परमा शक्ति इन्हें अपने हाथ में लेकर रूपान्तरित कर सके। और इसके लिए बाहरी परिस्थितियाँ अधिकाधिक विकसित हो रही हैं। भौतिक को महान् अचञ्चल-नीरवता की आश्यकता है जो शरीर के तमस् को निकाल कर उसे सच्ची शान्ति से भर देगी। उसके बाद बाकी सब कुछ किया जा सकता है।

केवल मेरी आत्मा को रखना
कि वह अनन्तकाल तक कर सके
आराधन
और तेरे हर रूप और
अन्तरात्म में उसका हो तुझसे
मिलन।

रूपान्तर

मेरी साँसे चलती हैं सूक्ष्म लयबद्ध प्रवाह में;
भर देती हैं मेरे अंगों को दिव्य शक्ति से ;
भीमाकर दानव की मदिरा की तरह
अनंत का पान किया है मैंने।

काल मेरा नाटक है या कि है मेरा
भविष्य स्वप्न !
अभी मेरे प्रदीप्त कोषाणु हो गए हैं-
आह्लाद का उत्कट विन्यास
और मेरी पुलकित शाखाओं में
फूटती नसें दुग्ध-धवल और पारदर्शी
हर्षोन्माद की
विशुद्ध वाहिकाओं में बदल गई हैं-
ज्ञानातीत और परम प्रभु के अंतः प्रवाह के लिए ।

अब शरीर के अधीन नहीं हूँ मैं,
अनुचर नहीं हूँ प्रकृति और उससे
संचालित नियम का;
नहीं हूँ अभी मैं इंद्रियों के संकीर्ण
जाल में जकड़ा हुआ।
मेरी क्षितिजहीन आत्मा अब असीम
दृश्य में हो गई विस्तीर्ण,मेरी देह हो
गई है भगवान का प्रमुदित
जीवन्त यंत्र,
मेरी आत्मा बन गई है अमर आलोक
का विराट सूर्य ।

---श्री अरविंद
अनुवाद - श्री सुरेश त्यागी

आधुनिक मन और गीता

"आधुनिक मन अभी तो यूरोपीय मन है, जैसा कि वह उस उच्चतम यूनानी-रोमन संस्कृति के दार्शनिक आदर्शवाद, जहाँ से उसने आरंभ किया था, को छोड़कर ही नहीं अपितु मध्य युग के ईसाई भक्तिवाद को भी छोड़ने के बाद बन गया है। उन्हें इसने व्यावहारिक आदर्शवाद और सामाजिक, राष्ट्र-संबंधी और परोपकारी भक्ति में बदल दिया है या इनके द्वारा प्रतिस्थापित कर दिया है। इसने भगवान् से छुटकारा पा लिया है या उसे केवल रविवार के उपयोग के लिए रख दिया है और 'उनके' स्थान पर मनुष्य को अपने देवता के रूप में और समाज को उसकी प्रत्यक्ष मूर्ति के रूप में स्थापित कर लिया है। अपने अच्छे-से-अच्छे रूप में यह व्यावहारिक, नैतिक, सामाजिक, लौकिक, परोपकारवादी, मानवतावादी है।... वह केवल मानवता में निवास करता है, और गीता हमें भगवान् में, हालाँकि जगत् के लिये भगवान् में, निवास करने के लिए कहती है; वह (आधुनिक मन) केवल अपने जीवन, हृदय और बुद्धि में ही निवास करता है, और गीता हमें आत्मा में निवास करने के लिए कहती है; वह क्षर सत्ता में निवास करता है जो "सभी प्राणी" हैं, और गीता हमें अक्षर और पुरुषोत्तम में भी निवास करने के लिए कहती है; वह काल की परिवर्तनशील गति में निवास करता है, और गीता हमें शाश्वत में निवास करने के लिए कहती है।

या फिर यदि इन उच्चतर वस्तुओं की अब अस्पष्ट रूप से परिकल्पना की भी जाने लगी है, तो भी यह केवल उन्हें मनुष्य और समाज के अधीन करने के लिए ही है; परंतु भगवान् और आध्यात्मिकता अपने-आप में स्वतंत्र रूप से अस्तित्वमान हैं, सहायक के रूप में नहीं। और व्यवहार में हमारे भीतर के निम्नतर भाग को उच्चतर के लिए अस्तित्वमान रहना सीखना चाहिए, ताकि उच्चतर भी हमारे भीतर सचेतन रूप से निम्नतर के लिए अस्तित्वमान रह सके, इस निम्नतर को अपने स्वयं की ऊँचाइयों के निकट खींच सके।

अतः आज की मनोवृत्ति के दृष्टिकोण से गीता की व्याख्या करना और इसे सर्वोच्च और सर्व-संपूर्ण विधान के रूप में हमें निःस्वार्थ कर्तव्यपालन की शिक्षा देने को बाध्य करना एक त्रुटि है। जिस परिस्थिति का हल करने की गीता चेष्टा करती है उसका थोड़ा- बहुत विचार करने से ही यह स्पष्ट हो जायेगा कि गीता का ऐसा अभिप्राय हो ही नहीं सकता था। क्योंकि, गीता के उपदेश का संपूर्ण आधार, जिससे इसका आविर्भाव हुआ है, और वह मूल कारण जो शिष्य को गुरु की शरण के लिए बाध्य करता है, कर्त्तव्य की एक-दूसरे से जुड़ी हुई विविध धारणाओं का जटिल रूप से उलझा हुआ वह संघर्ष है जिसका अंत मानव-बुद्धि के द्वारा खड़े किये गए सारे उपयोगी बौद्धिक और नैतिक भवन के ढहने में होता है।

मनुष्य जीवन में किसी-न-किसी प्रकार का संघर्ष प्रायः ही उत्पन्न हुआ करता है, जैसे कभी गार्हस्थ्य-धर्म और देश-धर्म या किसी उद्देश्य या अभियान की पुकार के बीच दुविधा, कभी स्वदेश के दावे और मानव जाति की भलाई या किसी बृहत्तर धार्मिक या नैतिक सिद्धांत के बीच संघर्ष। यहाँ तक कि एक आन्तरिक संकट या समस्या भी उत्पन्न हो सकती है, जैसी क़ि गौतम बुद्ध के जीवन में उपस्थित हुई थी, जिसमें अंतःस्थित भगवान् के आदेश का पालन करने के लिए सभी कर्त्तव्यों को त्याग देना, कुचल डालना और एक ओर फेंक देना होता है। मैं नहीं सोच सकता कि गीता इस प्रकार के आंतरिक संकटकाल का समाधान बुद्ध को पुनः अपनी पत्नी और पिता के पास भेजकर और उन्हें पुनः शाक्य राज्य की बागडोर हाथ में देकर करेगी; न ही यह एक रामकृष्ण को किसी स्वदेशी पाठशाला में पंडित बनकर छोटे बालकों को निष्काम भाव से पाठ पढ़ाने का निर्देश करेगी; न ही यह एक विवेकानन्द को अपने परिवार के भरण- पोषण करने के लिए बाध्य करेगी और इसके लिए निष्काम रूप से वकालत या चिकित्सा या पत्रकारिता का पेशा अपनाने को कहेगी। गीता निःस्वार्थ कर्त्तव्य पालन की नहीं अपितु दिव्य जीवन के अनुसरण की शिक्षा देती है, 'सर्वधर्मान्, सभी धर्मों का परित्याग कर के, एकमात्र परमात्मा की ही शरण ग्रहण करने की शिक्षा देती है; और एक बुद्ध, एक रामकृष्ण या एक विवेकानन्द की दिव्य क्रिया गीता की इस शिक्षा के पूर्णतः अनुरूप ही है। यही नहीं, यद्यपि गीता कर्म को अकर्म से श्रेष्ठ मानती है, परंतु कर्म-संन्यास का निषेध नहीं करती, अपितु उसे भी भगवान् तक पहुँचने के अनेक मार्गों में से एक के रूप में स्वीकार करती है। यदि उसकी प्राप्ति केवल कर्म तथा जीवन तथा सभी कर्त्तव्यों के त्याग करने से ही होती हो और भीतर से पुकार प्रबल हो तो इन सबको अग्नि में होम कर ही देना होगा, इसमें किसी का कोई वश नहीं चल सकता। भगवान् की पुकार अलंघ्य है, और अन्य किन्हीं भी हेतुओं के सामने इसकी तुलना नहीं की जा सकती।"

.... श्रीअरविन्द (गीता - प्रबंध)

व्यक्ति की नियति

-श्री अरविन्द

अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते विवाशेन मृत्यु तीर्त्वा सभूत्यामृतमश्नुते ॥

-ईशोपनिषद 11, 14

अविद्या द्वारा मृत्यु को पार कर विद्या द्वारा अमृत की प्राप्ति करते हैं।---- असंभूति द्वारा मृत्यु को पार कर संभूति के द्वारा अमृत की प्राप्ति करते हैं।

-ईशोपनिषद 11, 14

विश्व की सत्ता और विश्व के प्राण चाहे निर्विशेष हों या सविशेष, संदेह हों या विदेह, सजीव हो या निर्जीव, चेतन हों या अचेतन, पर सर्वोतम सत् ही उन सबका मर्म सत्य है। साधारण इन्द्रिय अनुभवों के स्थूल द्वन्द्वों से लेकर शुद्ध बुद्धि के जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म द्वन्द्व अनिर्वचनीय रहस्य में ही विलीन होते हैं, उन सबकी बहु विचित्रता या सतत विरोधाभास में भी वह सत् अखंड ही है-कोई समष्टि या समाहार नहीं है। उस अखंड सत् में ही विश्व इन समस्त विभूतियों का उद्गम, स्थिति और विलय है। इससे सम्बन्धित सारी धारणाओं का निषेध भी उसी सत् की व्यापक इति तक पहुँचने का ही प्रयास है। यह विषमता भी विरोधी पार्श्वों में उस एक ही सत्य का संधान है और संघर्ष में भी पारस्परिक अखंडता की भावना का आलिंगन ही अभीष्ट है। ब्रह्म ही सबका आदि तथा अन्त है और उस एक के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं----- एकमेवाद्वितीयं।

किन्तु इस एकत्व के स्वरूप की व्याख्या नहीं हो सकती है। मन के द्वारा उसकी थाह लेने की चेष्टा करने से तो हमें अनुभवों और धारणाओं की अनन्त परम्परा का ही अनुसरण करना पड़ता है और फिर अन्त में जाकर उस अनिर्वचनीय को व्यक्त करने के लिए इन विपुल धारणाओं और व्यापक अनुभवों का भी निषेध-सा ही करना पड़ता है। अन्ततः भारतीय ऋषियों के 'नेति नेति' – यह भी नहीं है, वह भी नहीं है—के सूत्र का ही अवलम्बन करना पड़ता है, क्योंकि वह न तो हमारी किसी अनुभूति के अन्तर्गत सीमाबद्ध ही किया जा सकता है और न हमारी किसी धारणा द्वारा उसकी परिभाषा ही हो सकती है।

हम स्वयं जो कुछ भी है और हमारे मन एवं इन्द्रियों द्वारा जो भी दीख पड़ते हैं उनकी सत्ता के सम्बन्ध में बुद्धि भी अन्त में यही कहेगी कि सत्ता की इन बहुविध अवस्थाओं एवं गुणों में, चेतना के इन अनेक रूपों तथा शक्ति की इन विविध क्रियाओं में हमें बस किसी अज्ञेय का ही आभास मिलता है। इन सारी अवस्थाओं, रूपों तथा क्रियाओं के भीतर और इन्हीं के द्वारा हमें उस अज्ञेय को जानने का प्रयास करना है। पर किसी बुद्धि ग्राह्य एकत्व पर अधिकार प्राप्त करने के लिए उतावले होकर और जो अनन्त है उसे अपने आलिंगन में बद्ध करने का दुराग्रह करके हम कितनी ही शुद्ध या नित्य अवस्थाओं विशेष को, उदार गुण विशेष, चेतना के कैसे भी व्यापक सूत्र विशेष या कितनी ही असीम शक्तिशाली क्रिया विशेष को सर्वात्म सत् समझ बैठेंगे और बाकी

दूसरों की ओर से आँखे मींच लेंगे तो उसकी अज्ञेयता के प्रति हमारी बुद्धि का यह घोर अपराध तो होगा ही, साथ ही पूर्ण एकत्व के स्थान पर अखंड का एक खंड भाव ही हमारे हाथ लगेगा।

वेदान्तकाल के हमारे प्राचीन ऋषियों को इस सत्य का ऐसा स्पष्ट बोध था कि धारणा एवं अनुभूति के सर्वोपरि शिखर एवं मानव चेतना में ब्रह्म की सर्वोच्च अभिव्यक्ति ---सच्चिदानन्द तक पहुँचकर भी वह नहीं रुके , बल्कि उससे भी आगे बढ़कर चरम सत्, विशुद्ध चित् तथा असीम आनन्द जिसकी अभिव्यक्ति या विकृति का ही हमें अनुभव होता—के भी परे के किसी असत् की ही कल्पना और धारणा भी कर ली। इस असत् का स्वरूप यदि सत् चित् एवं आनन्द का भी हो तब भी असत् का यह स्वरूप हमारी अनुभूतियों की पहुँच के सच्चिदानन्द से परे का ही कोई तत्त्व है और हमारी किसी भी परिचित संज्ञा द्वारा उसका वर्णन नहीं हो सकता। शास्त्रों की प्रामाणिकता न मानने का अपराध लगाकर हमारे पंडितों ने जिस बौद्ध धर्म को अवैदिक घोषित कर दिया था उसमें भी वेदान्त के इसी सिद्धान्त का प्रति पादन है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि उपनिषदों की समन्वयात्मक शिक्षा में सत् और असत् को परस्पर विरोधी तत्त्व नहीं, बल्कि बुद्धि द्वारा समझने के लिए एक ही अज्ञेय के दो पहलुओं का निदर्शन मात्र ही माना गया है। हमारी व्यावहारिक चेतना के कारोबार में तो एकत्व में अनेकत्व का हिसाब रहता है क्योंकि तत्त्वतः तो अनेकत्व भी ब्रह्म का स्वरूप ही है। एकत्व के ज्ञान द्वारा ही हम भगवान् को जानते हैं, इसके बिना हमारी सापेक्ष बहुमुखी चेतना (अविद्य) घोर अंधकारमय (अन्धतमः) और अज्ञान की अशान्ति (भूरि अतृप्तः) ही रहेगी। किन्तु यदि हम एकत्वरूपी अज्ञान के क्षेत्र (अविद्या) माया मिथ्या समझकर उसे छोड़ दें और केवल एकत्व के ज्ञान की उपलब्धि में ही लगे रहें तो वह ज्ञान (विद्या) उससे भी घोरतर अंधकार (भय तमः) होगा और हमारी अपूर्णता का ही कारण बन जायेगा। इस अधूरे ज्ञान के प्रकाश की चकाचौंध से हमारी आँखें मिच जायेंगी और जिस क्षेत्र को वह आलोकित करता है उसे भी हम नहीं देख पायेंगे।

हमारे प्राचीनतम ऋषियों का स्थिर, ज्ञानदीप्त, स्पष्ट उपदेश भी यही है। उनमें यदि ज्ञान के अन्वेषण की क्षमता और धैर्य था तो मानव ज्ञान की सीमा को स्वीकार करने के लिए स्पष्ट बुद्धि और विनय का भी अभाव नहीं था। अपनी सीमारेखा पार करके आगे बढ़ने के लिए मानव की बुद्धि को जिस विदेशी भूमि—अपने से परे के किसी तत्त्व—में प्रवेश करना पड़ता है, भी उनसे छिपा नहीं था। यह तो इसके परवर्ती काल में ही, मन एवं हृदय की चंचलता एवं अधीरता के वशीभूत होकर, परम आनन्द के प्रबल आकर्षण में पड़कर विशुद्ध सत् की अनूभूति पर पूर्ण आधिपत्य प्राप्त करने के लिए मानव बुद्धि अनेक को अमान्य करके एक के ही संधान में जुट गयी और उच्च शिखरों के आनन्द का स्पर्श पाकर अतल के रहस्यों से विमुख हो गयी । किन्तु पुरातन ऋषियें की स्थिर दृष्टि ने देख लिया था कि ईश्वर को तत्त्वतः जानने के लिए तो भेदभाव छोड़कर सर्वत्र समभाव से उसे ही देखना होगा और समस्त विरोधभासों में से उसकी ज्योति चमकती है अतएव उनमें अभिभूत न होकर भी उनका विवेचन तथा मूल्यांकन तो करना ही होगा।

तो तर्क बुद्धि की इस विषमता को—यदि एक सत्य है तो अनेक मिथ्या है और निरपेक्ष

ही सत् का स्वरूप या एकमात्र सत्ता है तो सापेक्ष असत् अथवा अस्तित्व विहीन है, छोड़कर ही हमें आगे बढ़ना होगा। अनेक में भी एक का ही निरन्तर संधान करने में हमारा यही आशय है कि विश्व के कण कण में उसी एक के दर्शन एवं आराधना करके हम कृतार्थ हों।

उच्चतर स्तरों की व्यापक ओजस्वी चेतना के सम्पर्क में आकर मानव मन प्रायः वहाँ के किसी विशेष दृष्टिकोण को ही अतिरंजित महत्त्व देने लगता है अतएव इस विषय में हमें अत्यन्त सतर्क रहना होगा। आध्यात्मिक मन की इस अनुभूति का कि संसार एक मिथ्या स्वप्न मात्र है, भौतिक बुद्धि की इस धारणा से कोई अधिक महत्व नहीं है कि ब्रह्म या लोकातीत, मन का एक भ्रम या निरी कपोलकल्पना ही है। एक ओर यदि इन्द्रियगोचरता को ही ज्ञान का एकमात्र साधन तथा स्थूल को ही एक मात्र वास्तविक समझने की चिर अभ्यस्त भौतिक बुद्धि न तो किसी इन्द्रियातीत अनुभव की प्रामाणिकता को ही स्वीकार करती है और न ज्ञान के अन्य साधनों का उपयोग ही कर पाती हो तो दूसरी ओर यही बुद्धि जब निर्गुण सत्य की प्रचंड अनुभूति प्राप्त करने लगती है तो अपने पुराने कुसंस्कारवश स्वप्न या मायाजाल की वही संज्ञा इन्द्रियगोचर संसार पर लागू करने लग जाती है। किन्तु इन दोनों ही धारणाओं में जिस सत्य का रूप विकृत हो गया है वह भी हमें प्रत्यक्ष है । यह तो सच है कि जिस रूपात्मक जगत् में हमें आत्मा को उपलब्धि करनी है वहाँ तो वही प्रामाणिकता रहेगी जिसका हमारी भौतिक चेतना पर भी अधिकार हो और चेतना के निम्नतम स्तरों में भी अपनी सर्वोच्च विभूतियों को व्यक्त कर सके। पर यह भी सच है कि नाम रूपों की स्वयंभू सत्ता की बात भी अज्ञानजनित भ्रम ही है। अतीन्द्रिय निराकार की अभिव्यक्ति के उपादान एवं रूपरेखा होना ही स्थूल नामरूपों का असली परिचय है। बात यह है कि नाम रूप भी दिव्य चेतना की ही रूपायण लीला है और चिन्मय भाव को किसी विशेष भंगिमा द्वारा व्यक्त करना ही उनका वास्तविक ध्येय है।

अथवा यों कहा जाय कि ब्रह्म ने रूप धारण करके जड़ में अपने चिन्मय स्वरूप का जो समावेश किया है सो चेतना के सापेक्ष प्रपंचात्मक रूपों में आत्माभिव्यक्ति का आनन्द भोग करने के लिए ही है। प्राणों के वैभव में अपने चिन्मय भाव को प्रस्फुटित करने के लिए ही ब्रह्म इस जगत् में है और प्राण भी अपने ही भीतर ब्रह्म की उपलब्धि के लिए ही ब्रह्म में प्रतिष्ठित है। संसार में मानव का इतना महत्त्व भी इसीलिए है कि वह अपनी चेतना का विकास करके विश्व की चेतना को भी इतना विकसित कर सकता है कि पूर्ण आत्मोपलब्धि द्वारा विश्व के रूपान्तर तक की सम्भावना हो जाती है। जीवन में भगवान् को प्रस्फुटित करने में ही मनुष्य की मनुष्यता सार्थक होती है। पाशविक प्राणों की विविध प्रवृत्तियों में ही उसकी इस साधना का श्रीगणेश होता है पर उसका लक्ष्य तो दिव्यजीवन ही है।

मन-प्राण दोनों में चेतना का उत्तरोत्तर प्रसार ही आत्मोपलब्धि की सच्ची साधना है। चेतना के अनेक क्रमागत रूपों में ब्रह्म की अभिव्यक्ति युगपत होते हुए भी क्रमबद्ध तो है ही अतएव प्राणों को भी अपनी सत्ता के नित नये रूपों में ही अपना स्वरूप प्रस्फुटित करना है। किन्तु एक स्तर से दूसरे स्तर में प्रवेश करते समय नूतन सिद्धियों के लिए विकल होकर यदि पिछली उपलब्धियों

को ठुकरा दिया जाय, मनोमय जीवन में पहुँचकर आधार स्वरूप भौतिक जीवन का तिरस्कार या त्याग दिया जाय अथवा आध्यात्मिक के प्रबल आकर्षण में भौतिक और मानसिक को अमान्य कर दिया जाए तो जीवन में हम न भगवान् को सार्थक ही कर पायेंगे और न उसके दिव्य रूपायण की शर्ते ही पूरी हो सकेगीं। इस प्रकार हमारी अपूर्णता का। इस प्रकार हमारी अपूर्णता का क्षेत्र भले ही बदल जाय या हम कुछ थोड़े से ऊपर भले ही उठ जायें। किन्तु इसमें हमारी सिद्धि तो नहीं हो सकेगी। हमें कितनी ही ऊँची अनुभूति क्यों न हो जाय और चाहे हम असत् के दुर्गम शिखरों तक ही क्यों न पहुँच जायें, यदि हम अपने आधार को ही भूल गये तो सब कुछ व्यर्थ ही रहेगा। निम्न को वैसा ही नहीं रहने देना, बल्कि अपनी अनुभूति के उच्च आलोक से उसे भी आलोकित करके उसका रूपान्तर कर देना ही दिव्य प्रकृति का स्वधर्म है। ब्रह्म तो अखंड समग्रता का ही पण स्वरूप है और उसमें चेतना के अनेकों स्तरों का युगपत समन्व है—अतएव उसके इस दिव्य भाव को व्यक्त करने के लिए हमें भी उसी की भाँति पूर्ण एव सर्वग्राही बनना पड़ेगा।

भौतिक जीवन से विरक्ति के अतिरिक्त वैराग्य भावना में एक और भी दोष है जिसका मोह, जीवन में भगवान् की पूर्ण अभिव्यक्ति के आदर्श द्वारा ही छूट सकेगा। चेतना के साधारणतः तीन रूप है—व्यक्तिगत चेतना, विश्वमय चेतना एवं विश्वातीत या तुरीय चेतना और इन तीनों से ही प्राण का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। व्यावहारिक जीवन के क्रियात्मक क्षेत्र में तो व्यक्ति अपने आपको विश्व के अन्तर्गत ही समझता है और स्वयं तथा विश्व दोनों को ही, विश्व एवं व्यक्ति के पवर्ती किसी तुरीय के अधीन मानता है। बोलचाल की भाषा में इस तुरीय को ही भगवान कहा जाता है और साधारणतः यह समझा जाता है कि भगवान् विश्व के परे ही नहीं, बल्कि विश्व के बाहर भी है। इस प्रकार ब्रह्म का विश्व एवं व्यक्ति दोनों से अलग कर देने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ है कि विश्व और व्यक्ति दोनों ही हमारी निगाहों में तुच्छ और अवनत हो गये हैं। इस युक्तिवाद के अनुसार तो व्यक्ति और विश्व की भावना से निवृत्त होकर तुरीयावस्था प्राप्त करना ही मानव जीवन का चरम पुरुषार्थ बन गया है।

किन्तु ब्रह्म के अद्वैतभाव की सम्यक अनुभूति में ऐसे परिणाम की सम्भावना नहीं रहती। जैसे मनोमय तथा अध्यात्म में पुहँचने के लिए स्थूल शरीर का त्याग नहीं करना पड़ता वैसे ही अद्वैत के दृष्टिकोण के अनुसार विश्वचेतना की अनुभूति तथा तुरीय विश्वातीत की उपलब्धि का व्यक्ति के कर्म प्रयास से कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार विश्व व्यक्ति को आलिगंन करके उसे अनन्य भाव से अपने अन्तर्गत रखता है और उसे अपने से अलग नहीं कर देना है उसी प्रकार तुरीय भी विश्व को आलिगंन करके अनन्य भाव से अपने अन्तर्गत ही रखता है और उसे अपने से अलग नहीं करता। व्यक्ति जैसे समग्र विश्वचेतना का एक केन्द्रबिन्दु है वैसे ही विश्व भी उस अरूप अनिर्वचनीय की समग्रता की पूर्ण अभिव्यक्ति का ही एक असीम रूप है।

व्यक्ति, विश्व एवं तुरीय का यही शाश्वत एवं सच्चा सम्बन्ध है। अज्ञान या चेतना की विकृत अवस्था में तो यह सम्बन्ध हमारी दृष्टि से ओझल रहता है पर ज्ञान तथा सत्यचेतना की उपलब्धि हो जाने पर इसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इससे इस शाश्वत सम्बन्ध में तो कभी कोई अन्तर

नहीं पड़ता, किन्तु हमारे ही भीतरी तथा बाहरी दृष्टिकोण में गंभीर परिवर्तन हो जाने से हमारे कर्म की भावना और धारा बदल जाती है। अज्ञान में भी व्यक्ति विश्व में तुरीय की क्रिया सम्पादान का ही केन्द्र है और ज्ञान प्राप्त कर लेने पर भी उसमें क्रिया की सम्भावना खतम नहीं हो जाती बल्कि ज्ञानदीप्त व्यक्ति का विश्व के कर्म में भाग लेते रहना, विश्वलीला के लिए अतीव आवश्यक है क्योंकि व्यक्ति में तुरीय की चिन्मय अभिव्यक्ति द्वारा ही समाष्टि या विश्व में आत्मचेतना प्रस्फुटित होती है। अतऐव ज्ञान का स्पर्श प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति के विश्वलीला से अलग हट जाने का ही कोई अनिवार्य विधान हो तब तो यह संसार शायद अनन्तकाल तक घोर अंधकार, मृत्यु और दुखभोग की ही रंगभूमि बना रहेगा। और ऐसा संसार कोई निष्ठुर यातना या यंत्रचालित माया ही हो सकता है।

संसार के विषय में वैराग्य की कुछ ऐसी ही धारणा है। किन्तु विश्व में जीवन का अस्तित्व ही यदि मिथ्या हो तो फिर व्यक्तिगत मुक्ति की भी कोई सार्थकता नहीं रहती। उनके अद्वैतवाद में जीवन और ब्रह्म एक ही हैं, बह्म तथा जीव में पृथकता का आभास केवल एक भ्रम है और इस भेदभावना से निवृत्ति पाकर ब्रह्म में लीन हो जाना ही जीव की मुक्ति है। पर इससे किसको लाभ होता है? नित्य मुक्त, नित्यशुद्ध, निर्विकार, प्रशान्त ब्रह्म को तो कोई लाभ होने से रहा। न संसार का ही कोई लाभ है, क्योंकि वह सदैव बंधन में ही रहेगा, किसी एक जीवन के मुक्त हो जाने से भी संसार का बंधन तो कटा नहीं। यदि यह कहा जाय कि दुख, ताप और द्वन्दों से छूटकर शाश्वत शान्ति एवं आनन्द द्वारा जीवन अपना कल्याण कर लेता है, तब यह भी मानना पड़ेगा कि मुक्त एवं ज्ञानदीप्त हो जाने पर भी जीव की विश्व तथा ब्रह्म से पृथक् कोई वास्तविक सत्ता बनी ही रहती है। और माया के बाहर उसका भी कोई अस्तित्व नहीं है। इन सबसे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि अस्तित्व ही मायिक जीव द्वारा किसी अस्तित्वहीन जीव द्वारा किसी अस्तित्वहीन मायिक विश्व के अस्तित्वहीन मायिक बंधन से मुक्ति का प्रयास ही उस अस्तित्वहीन जीव का परम पुरूषार्थ है। फिर तो ज्ञान का चरम सूत्र भी यही हुआ कि, "न कोई बद्ध है, न कई मुक्त होता है, न कोई मुमुक्षु ही है"। तब इस हिसाब से तो विद्या भी अविद्या की भाँति प्रपंचात्मक ही है। ऐसी मुक्ति के पथ पर खड़ी होकर मया अपने रहस्यजाल को काट देने का दावा करनेवाली इस तर्क बुदधि पर मन हँसा करती है।

मायावादी कहते हैं कि बन्धन एवं मुक्ति का यह रहस्य अनादि तथा अज्ञेय है, इसकी कोई व्याख्या नहीं हो सकती और अनुभूति के इस वास्तविक तथ्य को मानकर ही चलना होगा। इस प्रकार एक धाँधली से छूटने के लिए दूसरी धाँधली का सहारा लेना पड़ेगा। अर्थात् अपनी व्यक्तिगत मुक्ति में ही एकान्त अनुरक्ति होकर , अहं की इस पराकाष्ठा द्वारा ही जीव अहं के बंधन को काटने में समर्थ हो सकेगा। इसका अर्थ यह हुआ कि माया के भीतर भी जीव का कोई निरपेक्ष अस्तित्व है। इस विचारधारा के अनुसार संसार के अन्य जीव तो बस मन के विकल्पामात्र हैं जिनकी मुक्ति का कोई महत्व नहीं है और केवल हमारी आत्मा ही पूर्ण सत्य है जिसकी मुक्ति ही एकमात्र अभीष्ट है। इस प्रकार बस अपनी व्यक्तिगत मुक्ति ही वास्तविक है और अपने ही

स्वरूप अन्य जीव चाहे बंधन में पड़े रहें तो कोई हानि नहीं है।

जीव और विश्व के बीच अमिट विषमता की इस धारणा को दूर कर देने पर तर्क बुद्धि की धाँधली बिना भी, सब कुछ यथास्थान जम जाता है। यह तो सच है कि जो व्यक्त होता है वह स्वयं अखंड है पर साथ साथ ही इस व्यक्त सृष्टि की बहु विचित्रता भी वैसी ही सत्य है। देखकर भी आँखे न मीच ली जायें, तो क्या जिधर भी दृष्टि डाले उधर ही इस सत्य के दर्शन नहीं होते? चिन्मय सत् मुक्त है, तो फिर एकत्व के बन्धन से भी वह उतना ही मुक्त है जितना अनेकत्त्व के बंधन से और यही उसकी नित्युक्ति का अत्यंत स्वाभाविक तथा सहज रहस्य है। उसकी निर्विशेष भी इसी में है कि आत्मरूपायण की सारी सम्भावनए में इच्छानुसार वयक्त होने में वह पुर्णरूपेण स्वाधीन है । न स्वयं नित्यमुक्त है इसीलिए " न तो कोई बद्ध है, न कोई मुक्त होता है और न कोई मुमुक्षु ही है।" उसकी यह स्वच्छन्दता इतनी अबाध है कि उसके लिए मुक्त रहने का भी बंधन नहीं है। वास्तविक बंधन में फंसे बिना भी वह बद्ध होने का बड़ा सुन्दर अभिनय कर सकता है। उसका यह बंधन भी उसकी स्वकल्पित परम्परामात्र ही है और अहं में उसकी सीमा बद्धता भई जीवात्मा में अपने तुरीय भाव एवं विश्ववैभव को प्रस्फुटित करने का एक समयोपयोगी साधन ही है।

विश्वातीत तुरीय निर्विशेष है, नित्युक्त है, देश कालातीत है और ससीम तथा असीम की हमारी द्वन्द धारणाओं के भी परे है। किन्तु आत्मरूपायण की अपनी स्वच्छंद-माया का उपोयग करके विश्व में वह अपने स्वरूप को एकत्व और अनेकत्व की परम्परा पूरक संज्ञाओं में ही व्यक्त करता हो और अवचेतन, सचेतन तथा अतिचेतन के तीनों स्तरों में अपने इस बहुमुखी एकत्व की स्थापना करता है। यद्यपि उन्हें पता नहीं रहता फिर भी इस जड़जगत् के असंख्य रूपों की विश्वव्यास उपादानों एवं क्रियाओं के मूल में किसी अवचेतन एकत्व का स्पष्टतः भान होता है। सचेतन अवस्था में अहं ही इस एकत्व भावना के प्रादुर्भाव का बाह्य बिन्दु बन जाता है और बाहरी रूपों तथा क्रियाओं में तो उसे एकमेव की धारणा हो जाती है किन्तु स्वयं अपने भीतर क्या हो रहा है इसका हिसाब न रख सकने के कारण उसे यह अनुभव नहीं हो पाता कि केवल स्वयं से ही उसका एकत्व नहीं है बल्कि विश्व के साथ भी उसकी एकात्मता है। विश्व अहं के इस प्रकार व्यक्ति अहं की सीमा में बद्ध हो जाने से ही हमारे संकीर्ण व्यक्तिस्वरूप का निर्माण होता है। किन्तु व्यक्तिगत चेतना की सीमा को पार कर लेने पर इस अहं में भी अतिचेतन का स्फुरण और आधिपत्य होने लगता है। तभी उसे विश्व के एकत्व का भी अनुभव होने लगता है और उस तुरीय में भी उसका प्रवेश हो जाता है। सत् यहाँ विश्व के बहुधा एकत्व द्वारा व्यक्त हो रहा है।

अतऐव संकीर्ण अहं से जीवात्मा की मुक्ति ही विश्व में दिव्यलीला के प्रसार की कुंजी है। सबसे पहिले इसी की आवश्यकता है और इसी धुरी पर बाकी सब कुछ चलता है। इस ज्योतिबिन्दु पर ही विश्व में दिव्य के स्वरूप के पूर्ण अभिव्यक्ति का सूत्रपात होता है। मुक्त जीवात्मा के इस एकत्व का प्रकाश ऊपर नीचे ही नहीं जाता बल्कि चारों ओर फैलता है और तुरीय के साथ उसकी यह अनन्यता विश्व के बहुरूपों के साथ भी तादात्मय में ही सार्थक होती है। उस का यह तादात्मय

विश्व के अन्य अहंकेन्द्रों में भी अपनी मुक्त चेतना का प्रादुर्भाव करके प्रसारित होता है। जिस प्रकार प्राण प्रजनन द्वारा संसार में अपनी वंशवृद्धि करते हैं उसी प्रकार दिव्य आत्मा भी विश्व में अन्य जीवात्माओं की मुक्ति का कारणस्वरूप बन जाता है। अतएव जब कभी एक भी जीवात्मा मुक्त हो जाती है तो उस मुक्ति के प्रसार का आयोजन चलने लगता है और विश्व में दिव्य चेतना का एक सागर-सा उमड़ पड़ता है जिसकी लहरें पृथ्वी पर मानव आत्माओं को—और कौन जाने शायद लोकलोकान्तर तक को भी ---अपने स्पर्श से धन्य कर देती हैं। उसके उस प्रसार की सीमारेखा भला कहाँ खींची जायगी? बुद्ध देव के लिए जो यह कहा जाता है कि महानिर्वाण की देहरी पर पहुँचकर उनकी आत्मा ने पीछे मुड़कर देखा और यह व्रत ले लिया कि जब तक पृथ्वी पर एक प्राणी दुख संताप और अहंकार के बंधन में जकड़ा रहेगा, तब तक वह स्वयं भी महानिर्वाण के भीतर प्रवेश नहीं करेंगे—इसे क्या हम केवल एक किवंदन्ती कहकर ही उड़ा देंगे?

किन्तु विश्व की व्यापकता से बाहर निकले बिना भी हम सर्वोच्च अनुभूति प्राप्त कर सकतें हैं। ब्रह्म में भी तो भीतर मुक्ति और बाहर रूपायण, अभिव्यक्ति और अव्यक्ति, दोनों ही भाव शाश्वत हैं। हम भी ब्रह्म है अतएव हम भी इसी दिव्यभाव की उपलब्धि कर सकते हैं। जिसे भी दिव्य बनना है उसे इन दोनों भावों के सामंजस्य की शर्त पूरी करनी ही होगी। जिसको अतिक्रम करके मुक्त होना हो उसका त्याग ही यदि मुक्ति का पथ हो तब तो भगवान् ने जिसे अंगीकार कर रखा है उसे ही छोड़ देना पड़ेगा। कर्म में लिप्त होकर उसी की धारा में बह जाना तो निम्न गति है जिसमें सर्वोपरि से विमुख होना पड़ता है। किन्तु भगवान् ने जिन्हें मिलाकर समन्वित किया है उन्हें छिन्नभिन्न करने का दुराग्रह भी मनुष्य क्यों करे? भगवान की पूर्ण उपलब्धि के लिए मनुष्य को भी उसी की भाँति पूर्ण बनना पड़ेगा।

अविद्या या अनेकत्व के भीतर से ही मृत्यु सन्तापमय, अचिर अहंचेतना से बाहर निकलने का पथ है। अनेकता में भी पूर्ण एकत्व की अनुभूति द्वारा, विद्या और अविद्या के समन्वय में ही अमरत्व एवं दिव्य आनन्द पर हमारा पूर्ण अधिकार हो सकता है। सारी सृष्टि से अतीत जो असंभूति है उसमें पहुँचकर हम जन्ममरण के चक्कर से छूटते हैं—संभूति में भी दिव्य के ही स्वरूप को पहचान कर हम मृत्यु में भी अमरत्व की प्रतिष्ठा करते है और मानवता में चिन्मय की आत्माभिव्यक्ति के ही ज्योतिर्मय केन्द्र बन जाते हैं।

हृदय के अन्दर ज्योति जगाओ और प्रार्थना करो

श्रीमाँ

उस छोटे बच्चे की तरह होने की जगह जो घुटने टेक कर, हाथ जोड़ कर कहता है, "मेरे भगवान, मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ, मुझे अच्छा बच्चा बनाओ, मैं कभी अपनी माँ को चोट न पहुँचाऊँ....।" यह बहुत सरल है और वास्तव में मैं यह नहीं कह सकती कि यह बुरा है। यह बहुत अच्छा है। हाँ, लेकिन ऐसे बच्चे भी हैं जिनके साथ ये बातें नहीं चलेंगी, क्योंकि वे कहेंगेः "तुम्हें मुझे अच्छा बनाना चाहिये; अन्यथा तुम भले नहीं हो!" जब किसी का हृदय बहुत सरल हो और वह ज़्यादा सोचता न हो तब यह बहुत अच्छी बात है, लेकिन जब कोई सोचना शुरू करता है तो बात अधिक कठिन हो जाती है। लेकिन अगर तुम्हारे साथ ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो कहेः उसकी जगह-मोमबत्ती जलाओ और उसकी ओर अभीप्सा करो जो "अधिक सुन्दर, अधिक सत्य, अधिक उदात्त है, जो कुछ मैं जानता हूँ उससे अधिक अच्छा है। मैं जिन चीज़ो को नहीं कर सकता उन सबको करना शुरू करूँ, और हर रोज़ कुछ अधिक।" और तब यदि तुम अपने-आपको ज़रा बाहर निकालो, अगर किसी-न-किसी कारण, तुम संसार में बहुत अधिक दुःख-दारिद्रय के आगे कष्ट में हों या तुम्हें किसी तरह की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा रहा हो, कुछ भी, तो तुम यह माँगो कि समग्र चेतना एक साथ उस पूर्णता की ओर उठा दी जाये जिसकी अभिव्यक्ति आवश्यक है, और यह सारा अज्ञान, जिसने जगत् को इतना दुःखी बना दिया है, आलोकमय ज्ञान में बदल जाये और सारा अशुभ ज्योतिर्मय होकर शुभचिन्ता में बदल जाये। और फिर जहाँ तक कर सको, जहाँ तक समझ सको, अपने पूरे हृदय से चाहो; और वास्तव में वह प्रार्थना का रूप ले सकता है और तुम याचना कर सकते हो। किससे याचना ?- उससे याचना जो जानता है, जो कर सकता है, उस समस्त से याचना जो तुमसे अधिक बड़ा और अधिक बलवान् है, उससे याचना करो कि ऐसा हो सके। और ये प्रार्थनाएँ कितनी सुन्दर होंगी !

-

सावित्री (पर्व 1 सर्ग 5)
(राजा का योग : आत्मा की मुक्ति का और महिमा का योग)

काल के अंदर उत्पन्न मनुष्यों में यह ज्ञान प्रथम अश्वपति को प्राप्त हुआ। विचार के और केवला दृष्टि के बीच आये हुए विचार का उज्ज्वल परदा हट जाने पर गूढ़ता की गुहा दिखायी दी और जहां सब वस्तुओं का ज्ञान नित्य का निवासी बनकर रहा है वहां सूर्योज्ज्वल महादीप्ति में राजा ने प्रवेश किया। पार्थिव हृदय को बांधनेवाली मन की डोरी इसने काट डाली। जड़द्रव्य के नियम का जुआ इसने उतारकर फेंक दिया। प्राण की धड़कनें बंद होने पर भी मृत्यु वहां घुस नहीं सकती थी। श्वास और विचार स्तंभित होने पर भी यह वहां जीने का साहस करता था। देवों को प्राप्त समस्त ज्ञान वहां स्वयं विज्ञात था। जीवन के निगूढ हृदय में एक गुप्त कक्ष था और वहां विश्व के चित्रगुप्त की रेखालिपि थी। पवित्र ऋत-नियमों के कोष्ठक थे। वेदों के सत्यों का निघंटु था। भाग्य निर्माण को सूचित करनेवाले तारामंडल का छंदोलय था, संख्या की और आकृतियों की प्रतीकात्मक शक्तियां थीं, जगत् के इतिहास के गूढ़ लेख थे, आत्मा और प्रकृति के बीच में चलनेवाला पत्र-व्यवहार था।

प्रकृति में से उद्धृत जो सब काले करार की सत्ता के नीचे रहता है उसमें से उसको बचा लेनेवाली कायदे की कलम राजा को वहां से मिल गयी। अनंत की सम्मति प्राप्त करके महामाता प्रकृति रूपों का सर्जन करती है, ज्ञान प्राप्ति के लिये संकल्प जगाती है, मृत्यु के नियमन के नीचे जिजीविषा को जीवंत बनाती है, मांस-मिट्टी में परमानंद की तृषा उत्पन्न करती है, गैस और प्लाज्मा में से एक चैत्य जीव को अस्तित्व में लाकर प्रभु ने अविद्या की रात्रि को जो वचन दिया है उसके रहस्य को कार्यसिद्ध बनाती है।

गहराइयों में से दुनिया का दबा हुआ रहस्य जाग उठा। राजा ने मूल शासनपत्र पढ़ा। तमोलीन शक्ति के ढके रहनेवाले कार्य पर इसने परम प्रज्ञा की सही और सुलगती हुई सील देखी। अज्ञान में आयी हुई इसकी प्रकाशमय सोपान परंपरा प्रत्यक्ष हुई। सोये हुए देवताओं ने अपनी अमर आंखें सामने खोलीं। राजा ने देखा कि जड़तत्त्व की सृष्टि के भीतर सुवर्ण शिशु गर्भरूप में रहा है। जो अंतर में है उसके द्वारा जो बाहर में है उसका लेख इसने ठीक पढ़ा और समस्याएं स्पष्ट हो गयीं। पुराने मौन अवकाश में इसने सचेतन विराट् को देखा। शून्य में सिंहासनारूढ़ सर्वज्ञ परमात्मा का इसने दर्शन किया।

अब एक महासंकल्प ने और अंतहीन आशा ने इसके हृदय पर अधिकार जमाया। अतिमानुष स्वरूप का दर्शन करने के लिये इसने अदृश्य अध्यात्म शिखरों के प्रति दृष्टि ऊंची की, और एक महत्तर भुवन को नीचे उतार लाने की आस्पृहा की आराधना आरंभ की। इसको लगा कि जिस महोच्च महिमा की इसको झांकी हुई थी वह इसका अपना मूल धाम है, और नीचे के अज्ञान में से तथा अंधाधुंधी में से निकलकर हमें वहाँ जाना है।

जो सब नीचे हैं वह ऊपर की सत्य वस्तुओं की विकृति मात्र है। यहाँ के हमारे विचार उधार लिया हुआ प्रकाश प्राप्त करते हैं और व्यर्थ ही ऊँचे चढ़ते हैं। रखा न जा सके ऐसे स्वर्गीय सुख के पीछे हमारे हृदय बेकार झपट्टा मारते हैं। आत्मा की इच्छा यहाँ पूरी होती नहीं, केवल माँस मिट्टी के छोटे मोटे थोड़े से रोमांच ही अनुभव में आते हैं। असंगत अस्त-व्यस्तता और असफलता हमारे पीछे पड़ी हुई है। मनुष्य है महान बनने के लिये मथती हुई क्षुद्रता, देवों की सहजवृत्ति वाला पशु, विचारशून्य विश्व में विचार करनेवाला प्राणी। इसके समस्त कृत्यों का योगफल शून्य में समाप्त होता है। यह है एक आशा के पालने के और कब्र के बीच के झूले पर चढ़ी हुई तारक जैसी वस्तु। ऐसा होने पर भी एक महत्तर भावी इसके भाग्य में है, क्योंकि सनातन परमात्मा इसका सत्य स्वरूप है। यह अपने और उसी प्रकार अपने आसपास के जगत् को नये सिरे से सर्जन करने में समर्थ है। स्वयं अज्ञानी होते हुए भी यह काल के पार का ज्ञाता है। प्रकृति के दैवनिर्माण के पार का यह परम पुरुष है।

अबतक स्वयं जो कुछ किया कराया था उसमें से अश्वपति की आत्मा निवृत्त हो गयी। एक मौन ही इसका एकमात्र सहचर बन गया। अप्राप्य ऊँचाइयों से इसके ऊपर एक आह्वान उतर आया। शाश्वत के विराट् विस्तार में इसने निवास किया। इसकी आँखों में विश्वज्योति विलसित हुई। एक सुनहरा प्रवाह इसके हृदय में और मस्तिष्क से होकर बहने लगा। इसके मरणशील अंगों में एक ओज उतर आया। सनातन के आनंद सागरों की इसमें बाढ़ आने लगी। राजा अब अपनी अपरिसीम अध्यात्म भावी की तरफ अभिमुख हुआ। मृत्युलोक को नीचे रखकर, काल के धनुष पर से छूटे हुए एक ज्वलंत बाण की तरह, किसी एक भव्यातिभव्य शिकार जैसे प्रभु की खोज में इसने ऊँचे आरोहण किया। एक अनामी आश्चर्य ने इसकी आत्मा को भर दिया। शाश्वत के हृदय से यह हिल-मिल गया; अनंत के महामौन को इसने अपन अंदर धारण किया।

अश्वपति की आत्मा मर्त्य विचार के आगे से दिव्य पलायन कर गयी; मानव भाव छोड़कर यह मार्ग रहित आरोहणों पर आरोहित हुई, उस आरोहण के समय में एक ओजस्वी अवतरण छलांग मारकर नीचे आया। अज्ञात का आलिंगन होते ही एक महाबल, ज्वाला, सौन्दर्य, उत्कट आनंद, और अविशेष माधुर्य ने इसको घेर लिया। प्रभु के आश्लेष के महाविस्तारों में एक सर्वज्ञता ने और सर्वशक्तिमत्ता ने इसको अपना बना दिया। सारे ही संसार को अपने अंदर समाविष्ट करनेवाले एक सत्वरूप ने एक मानव हृदय को अपना निलय बनाया। कर्ता और कर्म रहे ही नहीं, रह गयी केवल विशाल और विशुद्ध आत्मा। चेतना को दबाकर रखनेवाला सब कुछ सरक गया, भूतकाल भस्मीभूत हो गया। सनातन के स्पर्श से इंद्रियों के साँचे टूट गये, अज्ञात कोष खुल गये, अद्भुत बलों की प्रवृत्ति शुरू हो गयी। अहंता अलग हो जाने से अबतक जो बड़ा बड़ा लगता था वह सब बिलकुल क्षुद्र बन गया, अश्वपति की आत्मा परमोच्च की हवा में श्वासोच्छ्वास लेनेवाली बन गयी। मूर्तिमन्त बने हुए अद्भुत स्वरूप के पदार्पण से नीचे की परिबद्ध करनेवाली सीमाएँ स्वयं समाप्त हो गयी। पुराने निषेधों के पांव पिघल गये। प्रतिबंधक नियम बेकार बन गये। भाग्य के लेख मिट गये, विश्व में कार्य कर रहे बलों को अटकानेवाले बाँध बैठ गये, आत्मा और अखिल ब्रह्मांड एक

समान बन गये। एक अपरिसीम सत्ता ने अमितकाल में प्रकृति पर आक्रमण शुरू किया। अश्वपति की आँखों के सामने पथरहित, प्राचीररहित निज क्षेत्र प्रकट हुआ।

राजा की दृष्टि मुद्रामुक्ति बन गयी। प्रकृति ने इसके आगे अपना सत्य-स्वरूप और आश्चर्यकारी शक्तियों को प्रकट करना आरंभ किया। अर्धदेवों का जिन पर अधिकार होता है ऐसी चमत्कारी सिद्धियों ने अश्वपति को आत्मसमर्पण किया और एक बार जो अशक्य माना जाता था वह सब इसके लिये सहज सिद्ध बन गया। शक्ति सूचक यंत्राकृतियाँ, संख्या की जादूगिरी, भौमितिक अद्भुत आयोजन राजा की सेवा के लिये समुपस्थित हुए। स्रष्टा की तरह, इसकी सृष्टि भी आश्चर्यों को उत्पन्न कर सकती है, शब्द के और विचार के चमत्कारी बलों से अद्भुतताओं को अस्तित्व में ला सकती है। मन में अजब-गजब की शक्तियाँ भरी पड़ी हैं। ये जब चाहें तब जड़ जगत् के नियमों को स्थगित कर सकती हैं, या तो इनको बदल सकती है, सोती हुई शक्ति को जगा सकती हैं, देव और दानव दोनों को काम में लगा सकती हैं। इसका आह्वान सर्वज्ञ को और सर्वशक्तिमान को बुलाकर ला सकता है और अभी जो विस्मृत हो गयी है उस सर्वसमर्थ शक्ति को भीतर में जगा सकती हैं।

चमत्कारी सिद्धियों के साथ का यह सब राजा अश्वपति का बन गया। राजा में प्रकट हुई दिव्यता की अधीनता इसने स्वीकार की। विकृतियों में से इसका छुटकारा हुआ और यह सब जिसके लिये सर्जित हुआ था उसकी सेवा में समर्पित हो गया। अनिच्छुक प्रकृति अपने प्रभु से पराजित हो गयी। अब यह स्वामी की सेवा करने की कृतार्थता साधित करने लगी। आधीनता में जो आनंद रहता है उसका इसने अनुभव किया। इसके पास सीलबंद स्थिति में जो ज्ञान-प्रज्ञान था, जो सर्व शक्तिमान के रहस्य थे उन सबको इसने एक के बाद एक खोलकर, राजा अश्वपति के हवाले कर दिये।

गूढ़विद्या और गूढ़शक्ति केवल सरहद के ऊपर सत्ता चलाती है। द्वार की देहली पर खड़ी रहकर यह पार्थिव क्षेत्र के पार जो अस्तित्व में है उसकी सुरक्षा का कार्य करती है। प्रभु के प्रस्फोटों के लिये यह नहरें बनाती है, झिलमिलाते आविष्कारों के लिये लंबा मार्ग तैयार करती है। यहाँ आने के बाद राजा के लिये अज्ञात के अद्भुत भवन अदूर थे। इसके पगों के आसपास पाताल-गह्वर अपने मुंह फाड़े हुए थे, इसकी दृष्टि को दिव्य शिखरों के दर्शन होते थे। राजा स्वयं प्रभु के सहस्त्रगुण गृह के अग्रभाग में था। असीमता में से अज्ञात सिर निकालकर झांकता था। कालमानहीन साम्प्रत में से इसकी दृष्टियाँ आती थीं। इसकी छायाओं में देवों के जन्म की ज्योतियों की जगमगाहट थी। इसके अंग अशरीरी का संकेत करते थे, इसका भाल अध्यात्म-आभाओं से शोभायमान था। अज्ञेय में से इसके रूप प्रक्षिप्त होते थे, इसकी आँखों में अनिर्वचनीय के स्वप्न थे, और इसकी दृष्टि सनातन पर स्थिर हुई थी। अश्वपति के जीवन को असीम अवचेतन पृष्ठ का ज्ञान हुआ। अल्प अग्रभाग अदृष्ट विराटों की तरफ खुले हुए थे, इसके अगाधतल अनावृत हो गये थे, इसके लिये परपारताएँ संकुलित ज्योतियों द्वारा पारदर्शक सी भासती थीं।

परदे के पीछे जो गूढ़स्थ जगत् है उसके भीमकाय स्वरूपों को राजा ने देखा। हमारा दृश्य जगत् तो इसके दृष्टिगोचर होनेवाले चोगे के बाहर की झूल मात्र है। इसके थोड़े से विस्तृत किनार में से हमारे स्थूल जीवनों का सर्जन हुआ है। अंतरतम मन की एक दीवार पर सूक्ष्म संज्ञाओं का नक्शा लटकाया हुआ था। सनातन रहस्यमयता का परावृत्त प्रतिबिम्बन होता था उसका ख्याल इसके ऊपर से आता था। आरोहण और अवरोहण करते ऋतराज्य अकाल में से काल में निमज्जन करते थे, और फिर मन के, प्राण के और जड़द्रव्य के रूप में ढले हुए महिमा से भरे काल में से अकाल में आरोहण करते थे। एक सुवर्ण सीढ़ी के ऊपर जीवात्मा वहाँ आरोहण करता था। ब्रह्म की दोनों पराकोटियाँ रेशम के तंतु से संधान पाती थी। चेतना से चेतना में उतरते समय अचित् की शक्ति का अवलंबन लिया जाता था, चेतना से चेतना में चढ़ते समय जिस सत्य में से सब आया है उसके प्रति मस्तक ऊंचे होते थे। शाश्वत स्वरूपों के कार्यों की सरगम उत्क्रांत होते मार्ग से ऊर्ध्व में आरोहण करती थी और सृष्टि को अनिर्वचनीय के साथ जोड़ती थी।

सभी जगत् जहाँ संयुक्त होते हैं ऐसा एक उच्च जगत् देखने में आया। शिखर के ऊपर के प्रकाश में न थी रात्रि और न थी निद्रा। सच्चिदानन्दमयी त्रिपुटी का प्रकाश वहाँ से आरंभ होता था। इस प्रकाश में जो जो जिस जिसकी खोज करता था वह सब प्राप्त होता था। अचित् को अपना चैतन्यमय हृदय मिलता, अज्ञान को सत्य के शरीर का आलिंगन मिलता, जड़पदार्थ की नीरवता अगाध अनिर्वाच्य में से अपने संगीत मेल का मर्म प्राप्त करती, संसिद्ध छंदोमयता पृथ्वी की क्षुधा को संतोष देनेवाला प्रत्युत्तर पाती, लंबे समय के अवरोधनों का अंत आ जाता। हमारी जीवन की अनुच्चारित मर्मरध्वनि असीम अर्थ में वहाँ सार्थक बन जाती, सुनहरी शब्द ऊर्ध्वोर्ध्व में उठा ले जाते और सत्य का दर्शन करानेवाला सनातन स्वर संप्राप्त होता। सत्य का सत्य के साथ के संघर्ष का शमन हो जाता, भेद के मार्ग से सब कुछ एकता के प्रति यात्रा करता, काल का सर्जक अर्थ और काल, एकात्मकता की शैली के और अन्वय के साथ संलग्न हो जाते, चिंतनशील गहराइयों में से विजयगीत उभर आता, त्रिगुण समुदायों के प्रति स्तोत्रगान का स्वर आरोहण करता। अचित् द्रव्य की गहनताओं में से परमात्मा के उत्तुंग शिखरों के प्रति अर्पण करनेवाली ऊर्ध्वारोही उद्गीतियों के साथ अभीप्सु स्वर और स्वरलहरियाँ आरोहण करती थीं।

ऊपर थे अमरों के अविकारी धाम, एक स्वरूप के दिव्य द्वार, शाश्वत के आमोद-प्रमोद की शुभ्रकक्षाएं। यहां थे मृत्युमुक्त प्रभु के प्रदेश, पराप्रकृति के परिचित महिमामार्ग, सामर्थ्य के शांत महाखंड, अगोचर सौन्दर्य के आवास, ज्ञान के सूर्योज्ज्वल पट, चंद्र की मुदामयी मेखलाएं।

अश्वपति वहाँ थोड़ी देर रह सका। राजा था मार्गरहित और मानरहित महासागरों का महायात्री। अज्ञात के जोखिमों का इसने सामना किया। प्रकांड प्रदेशों को पार करने का इसने साहस किया। एक अनोखे स्थल-काल में इसने दरार की।

(पर्व 02 सर्ग 1अगले अंक में)

मूल गुजराती लेखक - पूजालाल

हिन्दी अनुवादिका – सरला शर्मा

यद्यपि मेरे चारों ओर

रविन्द्रनाथ ठाकुर

यद्यपि मेरे चारों ओर धन-जन का जाल बिछा है,
फिर भी मेरा मन तुझे ही चाहता है–
यह तुझे पता है।

मेरे अन्तःकरण का निवासी होने से मेरे मन का भेद
तू मुझसे भी अधिक जानता है।
मैं सुख में रहूँ, दःख में रहूँ,
सब कुछ भूले रहने पर भी मेरा मन तुझे ही चाहता है –
यह मुझे पता है।

मैं अपना अहंकार नही छोड़ सकता, उसे अपने माथे पर
लादे सारी दुनिया में भटकता रहा हूँ।
उसे छोड़ता तो सब पा जाता, किन्तु इस
सबके बीच मैं तुझे ही चाहता हूँ–
यह तुझे पता है।

मेरे पास जो कुछ है सब मुझसे कब लेगा?
सब त्यागकर ही मैं तुझसे मिल पाऊँगा
मेरा मन तुझे ही चाहता है –
यह तुझे पता है।

श्रीअरविन्द की शिक्षा तथा साधना-पद्धति

आभासों के पीछे की वास्तविकता

श्री अरविन्द की शिक्षा प्राचीन ऋषियों की इस शिक्षा से शुरू होती है कि जगत् में जो रूप और आकार दिखलायी देते हैं उनके पीछे एक परम सत्ता और परम चेतना का सच्चा स्वरूप है, सभी चीजों में सभी प्राणियो में एक अद्वितीय तथा शाश्वत आत्मा है, लेकिन, चूँकि मनुष्य उसके प्रति सचेतन नहीं है इसलिए वह अपने मन, प्राण और शरीर को अलग-अलग मानता है, किन्तु साधना के द्वारा विभेद करने वाले इस परदे को हटा कर मनुष्य अपने सच्चे स्व, अपने अन्दर, और सबके अन्दर आसीन भगवान् के दर्शन कर सकता है, उन्हें जान सकता है।

प्रकृति में आरोहणकारी क्रमविकासः

श्री अरविन्द की शिक्षा यह कहती है कि 'एक सत्ता' और 'एक चेतना' जड़तत्त्व में छिपी हुई है और विकास की प्रक्रिया के द्वारा अपने आपको मुक्त करती है। जो कुछ निश्चेतन मालूम होता है उसमें चेतना दिखलायी देती है और जब एक बार चेतना प्रकट हो जाती है तो उसके बाद वह अपने- आप ही अधिकाधिक ऊँची उठती जाती है और साथ ही अधिकाधिक पूर्णता की ओर बढ़ती और विकसित होती जाती है। चेतना की इस उन्मुक्ति की पहली अवस्था है प्राण, दूसरी है मन, लेकिन मन तक आकर ही चेतना का ऊपर उठना बन्द नहीं हो जाता; मन किसी और बड़ी चीज के अन्दर, आध्यात्मिक और अतिमानसिक चेतना के अन्दर जा मिलने की प्रतीक्षा कर रहा है, इसलिए विकास का अगला कदम होगा-सचेतन सत्ता में अतिमानस की ओर बढ़ना, मन की जगह आत्मा का सर्वोपरि शक्ति बनना और केवल उसी अवस्था में सभी वस्तुओं , सभी प्राणियों के अन्दर विराजमान ईश्वर स्वयं को पूरी तरह से बाहर प्रकट करेंगे और तब जीवन पूर्णता को प्रकट करने मे समर्थ होगा।

लेकिन जहाँ प्रकृति ने विकास के पहले कदम पौधों और पशुओं में कोई सचेतन इच्छा हुए बिना ही आगे बढ़ाये थे, वहाँ मनुष्यों में आकर वह अपने यन्त्र-यानी मनुष्यों की-सचेतन इच्छा-शक्ति की सहायता से विकसित होने के योग्य हो जाती है। परन्तु मनुष्य की केवल मानसिक इच्छा-शक्ति की सहायता से ही पूरी तरह से यह कार्य सम्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि मन कुछ दूर तक ही जाता है और उसके बाद बस गोल-गोल चक्कर काटता है। एक बड़ा परिवर्तन बहुत ज़रूरी है, यानी चेतना का पूरी तरह पलट जाना अत्यन्त आवश्यकक है ताकि मन एक उच्चतर तत्त्व में बदल जाये। प्राचीन काल में बतलाया जाता कि उच्चतर तत्त्व की ओर जाने के लिए सबसे अच्छा तरीका है कि इस संसार से अलग होकर आत्मा की उच्चता में प्रवेश कर उसे पाने की कोशिश करना, लेकिन श्री अरविन्द की शिक्षा हमें बतलाती है कि यह सम्भव है कि उच्चतर तत्त्व इस धरती पर नीचे उतर आये और तब वह मन के अज्ञान या इसके अत्यन्त

सीमित ज्ञान के स्थान पर अतिमानसिक सत्य चेतना को प्रतिष्ठित कर दे, और तभी मनुष्य अपनी पशुता से भरी मनुष्यता से निकल कर एक दिव्य जाति में रूपांतरित हो सकेगा। इसी उद्देश्य को पाने के लिए योग तथा साधना का उपयोग किया जा सकता है। अपनी सत्ता के सभी अंगों को उद्घाटित कर और उच्चतर तथा अब तक छिपे हुए अतिमानस-तत्त्व के अवतरण तथा उसकी क्रिया की सहायता से परिवर्तन या रूपान्तर लाकर इस उद्देश्य को सिद्ध किया जा सकता है।

योग की प्रक्रियाः

परन्तु यह कार्य एकदम या थोड़े समय में या किसी तेज या चमत्कारपूर्ण रूपान्तर के द्वारा पूरा नहीं किया जा सकता। साधक को बहुत से स्तर पार करने होते हैं और तब कहीं जाकर अतिमानस का अवतरण सम्भव होता है। साधारण तौर पर अधिकांश में मनुष्य अपने सतही मन, प्राण और शरीर में ही रहता है, लेकिन उसके अन्दर एक महान् आन्तरिक सत्ता भी है जो बहुत-सी सम्भावनाओं से भरी है और अपनी इस अन्तर सत्ता के बारे में ही उसे सचेतन होना है। अभी तक उस सत्ता का अत्यन्त सीमित प्रभाव ही मनुष्य ग्रहण करता है और वही उसे सदा एक महानतर सौन्दर्य, सामजस्य, शक्ति और ज्ञान की खोज में लगाये रहता है। अतः योग की पहली प्रक्रिया है, इस आन्तरिक सत्ता के सभी क्षेत्रों को खोल देना और वहाँ रहते हुए बाहरी जीवन बिताना, एक आन्तरिक ज्योति और शक्ति की सहायता से अपने बाहरी जीवन को नियन्त्रित करना। जब मनुष्य ऐसा करता है तो इसके फलस्वरूप वह अपने अन्दर अपनी सच्ची अन्तरात्मा के प्रति सचेत होने लगता है जो मन, प्राण तथा शरीर को भी संभाले रहती, लेकिन छिपी बैठी है इन सबके पीछे परम सद्वस्तु के रूप में। वही है अद्वितीय भागवत अग्नि की एक चिनगारी। मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा में निवास करना सीखना होगा और अन्तरात्मा का सत्य की ओर जो प्रवेग है उसके द्वारा अपनी बाकी प्रकृति के शुद्ध करना तथा उसे भी लक्ष्य की ओर मोड़ना होगा। उसके बाद फिर उसका आधार ऊपर की ओर खुल सकता है और उसके अन्दर दिव्य सत्ता का एक उच्चतर तत्त्व अवतारित हो सकता है। परन्तु इतना होने पर भी एकदम से पूर्ण अतिमानसिक ज्योति तथा शक्ति का अवतरण नहीं होता; क्योंकि साधारण मानव मन और अतिमानसिक सत्य -चेतना के बीच चेतना के बहुत से स्तर हैं। इन बीच के स्तरों या भूमिकाओं को भी खोलना होगा और ऐसा कर लेने के बाद ही अतिमानसिक सत्य-चेतना की पूर्ण शक्ति मनुष्य के अन्दर कार्य कर सकती है। अत:, इस आत्मानुशासन या साधना की प्रक्रिया लम्बी और कठिन है, लेकिन इसका थोड़ा-सा भी अंश यदि जीवन में उतारा जाये तो वह बहुत लाभदायक होता है क्योंकि उससे धीरे-धीरे लक्ष्य तक पहुँचना सम्भव होता है अत:, हम कह सकते हैं कि लक्ष्य तक पहुंचने के लिए पहला पाठ है-अपनी सभी क्रियाओं को सचेतन होकर करने का प्रायस करना और अपनी सच्ची आन्तरिक पुकार के दिग्दर्शन में चलना।

प्राचीन योग-पद्धतियों की कई बातें अनिवार्यः

प्राचीन योग-पद्धतियों में ऐसी बहुत-सी चीजें हैं जिनकी इस पथ में भी आवश्यकता होती है- जैसे एक महत्तर विशालता की ओर तथा उस 'आत्मा' और 'अनन्त' की अनुभूति की ओर अपने

मन को खोलना, जिस विश्व चेतना कहा जाता है; उसमें प्रवेश कर वासनाओं तथा षड्रिपुओं पर प्रभुत्व स्थापित करना। हमारे योग में बाह्य तपस्या आवश्यक नहीं है, लेकिन कामना-वासना और आसक्ति पर विजय प्राप्त करना तथा शरीर और उसकी आवश्यकताओं को, उसकी लालसाओं और अन्ध-प्रेरणाओं पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। इस मार्ग में प्राचीन योग पद्धतियों की सभी मूल बातों का समावेश किया गया है-जिसे, ज्ञानमार्ग का -मन के द्वारा सद्वस्तु और बाह्य रूप के बीच विवेक करना; हृदयमार्ग का –भक्ति , प्रेम और आत्म-समर्पण करना; कर्ममार्ग का –अपनी इच्छाओं को स्वार्थपूण उद्देश्य से हटा कर सत्य की ओर लगाना, अपने अहं से, बड़ी दिव्य सद्वस्तु की सेवा में लगाना इत्यादि। इस मार्ग में अपनी सारी सत्ता को इस प्रकृति के अन्दर क्रिया करना सम्भव हो तब हमारी सारी सत्ता उनकी क्रिया को प्रत्युत्तर दे सके तथा रूपान्तरित हो सके।

गुरु की भूमिकाः

इस साधना में गुरु की प्रेरणा तथा कठिन अवस्थाओं में उनका नियन्त्रण और उनकी उपस्थिति आवश्यक है। उनके अभाव में पथ पर बहुत ठोकरें खाने तथा भूलें करने की बड़ी सम्भावना बनी रहती है। गुरु वे हैं जो उच्चतर चेतना तथा सत्ता को प्राप्त कर चुके हैं। उन्हें बहुधा उस चेतना और सत्ता का व्यक्त रूप या प्रतिनिधि माना जात है। वे केवल अपनी शिक्षा द्वारा और उससे भी अधिक अपने प्रभाव तथा उदाहरण के द्वारा ही नहीं, बल्कि अपनी अनुभूति को दूसरों तक पहुँचा सकने द्वारा भी सहायता करते हैं।

संक्षेप में :

यही संक्षेप में श्रीअरविन्द की शिक्षा तथा उनकी साधना-पद्धति है। किसी एक धर्म-विशेष को उन्नत करना, अथवा प्राचीन धर्मों को एक साथ मिला देना या कोई नया धर्म प्रचलित करना उनका उद्देश्य नहीं है, क्योंकि इनमें से प्रत्येक चीज उनके मुख्य उद्देश्य से दूर हटा ले जायेगी। उनके योग का एकमात्र उद्देश्य है, आन्तरिक आत्म-विकास-जिसके द्वारा इस योग का प्रत्येक साधक यथासमय सभी में स्थित अद्वितीय आत्मा को प्राप्त कर सके तथा अपने अन्दर मानसिक चेतना से उच्चतर एक ऐसी चेतना को , एक ऐसी आध्यात्मिक और अतिमानसिक चेतना को विकसित कर सके जो मानव-प्रकृति को रूपान्तिरत करके दिव्य बना दे।

श्रीअरविन्द विदेशियों की दृष्टि में

डा.सुरेशचन्द्र त्यागी

भारत के ही नहीं, विश्व के बौद्धिक एवं आध्यात्मिक नेताओं में अग्रगण्य श्रीअरविन्द के विचारों का प्रकाश विज्ञापन और प्रचार के अभाव में भी देश की सीमाओं को लाँघता हुआ संसार के कोने-कोने में फैल रहा है। सभी देशों के विचारकों ने उनकी महत्ता स्वीकार की है। सन् 1949 में भारत सरकार ने एक प्रेस नोट जारी किया था कि संसार के विभिन्न भागों- विशेषतः अमरीका से-श्रीअरविन्द और उनके आश्रम के बारे में पूछताछ के लिए अनेक पत्र आ रहे हैं। अनुमान किया जा सकता है कि ऐसे जिज्ञासुओं की संख्या अब कितनी हो गयी होगी। अमरीकी विश्वविद्यालयों के शिक्षक तथा अन्य चिन्तक अपनी वैचारिक और व्यवहारिक समस्याओं के समाधान के लिए श्रीअरविन्द के विविध रूपों पर शोध कार्य हो रहा है तथा पाठयक्रम में उनके ग्रन्थ स्वीकृत हैं।

स्टेनफोर्ड विश्वविद्यालय केलिफिर्निया के डॉ.फेडरिक स्पीगेलबर्ग सन्1949 में भारत आये थे। उन्होंने श्रीअरविन्द के विषय में कहा था "मैं उस दिन का अनुमान कर सकता हूँ जब भारत की महानतम आध्यात्मिक वाणी-श्रीअरविन्द की शिक्षाएँ,जो पहले ही प्रगति के पथ पर हैं, सारे अमरीका में जानी जाएँगी और प्रकाश की अपार शक्ति बनेंगी।" तथा "मैं श्रीअरविन्द की महानता को केवल इस युग तक सीमित नहीं करूँगा। प्लेटों, स्पिनोजा, कान्ट और हीगेल भी हुए हैं लेकिन उनमें वैसी सर्वग्राही अलौकिक संरचना, वैसी अन्तर्दृष्टि नहीं है।" फरवरी1936 में श्रीअरविन्द से मिलने पर डॉ.बासवेल की भी ऐसी ही प्रतिक्रिया थी।

हारवर्ड विश्वविद्यालय के विश्वप्रसिद्ध समाजशास्त्री सोरोकिन ने श्रीअरविन्द का विशेष अध्ययन किया है और अपने ग्रन्थों में प्रसंगानुसार उनकी चर्चा की है। उनके शब्दों में, "वैज्ञानिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण से श्रीअरविन्द की रचनाएँ पश्चिम के वैज्ञानिक, मनोविज्ञानिक, मनोविकृति-विज्ञान और शैक्षिक कला की सही प्रतिकारक हैं।

श्रीअरविन्द की 'दि लाइफ़ डिवाइन' तथा दूसरी योग सम्बन्धी पुस्तकें हमारे युग की दर्शन, नीति एवं मानविकी विषयों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण कृतियों में से हैं।

श्रीअरविन्द स्वयं हमारे युग के महानतम जीवित मनीषियों में एक तथा श्रेष्ठतम नेता है। साइरेक्यूज विश्यविद्यालय के दर्शन विभाग के प्रोफेसर, विख्यात विचारक एवं कला-समीक्षक रेमंड एफ. पाइपर ने लिखा है कि श्रीअरविन्द का एक-एक वाक्य ज्ञान के नये-नये लोकों को उदघाटित करने वाला है उन्होंने कहा है- "मैंने कभी ऐसे लेखक का अध्ययन नहीं किया जो श्रीअरविन्द की तरह इतने अधिक सत्य को एक वाक्य में समाहित कर सके। गाँधी महानतम सन्त हैं और टैगोर आधुनिक भारत के महानतम कवि, लेकिन श्रीअरविन्द महानतम विचारक है। वस्तुतः उन्होंने कवि, दार्शनिक और सन्त के रूप में अप्रतिम त्रिविध महानता प्राप्त की है"

श्रीअरविन्द के महाकाव्य 'सावित्री' के बारे में डॉ. पाइपर ने अपनी पुस्तक 'दि हंग्री आइ'(The Hungry Eye) में विस्तार से लिखा है। उनकी दृष्टि में 'सावित्री' अंग्रेज़ी भाषाओं का महानतम महाकाव्य और अद्वितीय सौन्दर्य से परिपूर्ण कृति है। संयुक्त राज्य अमेरिका के डेलावेयर विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के अध्यक्ष बरनार्ड फिलिप्स सन् 1951 में श्रीअरविन्द आश्रम पधारे थे। अपने भाषण में उन्होंने कहा था कि शिक्षा की वर्तमान प्रणालियाँ मनुष्य के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं करतीं। श्रीअरविन्द का पथ नवीन मानवता के विकास का नेतृत्व करेगा।

सन् 1950 में श्रीअरविन्द के प्रसिद्ध ग्रन्थों का अमेरीका में प्रकाशन होने से उनके विचारों के प्रसार में बहुत बड़ी मदद मिली। मैक्सिकों और कनाडा में भी श्रीअरविन्द अध्ययन केन्द्र हैं। सन्1954 में ब्राजील में हुई दर्शन की अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस के कार्यक्रम में श्रीअरविन्द पर विशेष विचार हुआ था। चिली निवासी नोबल पुरस्कार विजेता गैब्रियल मिस्ट्राल ने लिखा है कि "टैगोर ने यदि मेरे भीतर निहित संगीत को जगा दिया तो दूसरे भारतीय श्रीअरविन्द ने मुझे कर्म के प्रति जागरूक कर दिया। उन्होंने मेरे धार्मिक प्रतिष्ठान का मार्ग प्रशस्त कर दिया ।

वस्तुतः मैं भारत का बहुत ऋणी हूँ- कुछ तो टैगोर के कारण और कुछ श्रीअरविन्द के कारण।" इन्होंने ही सन् 1950 के नोबल पुरस्कार के लिए श्रीअरविन्द का नाम प्रस्तुत किया, जिसका अनुमोदन पर्ल एस.बक द्वारा किया गया था।

अमेरीका में ही नहीं, यूरोपीय देशों में भी श्रीअरविन्द की महत्ता स्वीकार की गयी है। ई. एफ.एफ.हिल ने अक्टूबर 1949 में 'वर्ल्ड रिव्यू' में लिखा था कि श्रीअरविन्द सबसे महान समकालीन दार्शनिक हैं और सब युगों के महानतम रहस्यवादियों में महान हैं। श्रीअरविन्द की मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि इतनी तीक्ष्ण और स्पष्ट है कि उनकी तुलना में पश्चिमी मनोविज्ञान , यहाँ तक कि फ्रॉयड का कार्य भी, ऐसा लगता है जैसे कोई बच्चा अँधेरे में कुछ टटोल रहा हो।

श्रीअरविन्द भारत की विगत आध्यात्मिक उपलब्धि के जीवन्त रूप है और उसकी भावी आध्यात्मिक नियति के सर्वप्रमुख नेता हैं। उन्होंने लिखा है- "हम मानव के आध्यात्मिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण मोड़ पर हैं।श्रीअरविन्द मानव जीवन में उस क्रान्ति के मूर्त रूप हैं जिसका निर्माण इस समय नवीन ज्ञान, नवीन शक्तियों और नवीन क्षमताओं द्वारा हो रहा है।"

प्रख्यात अंग्रेज़ी विचारक और लेखक फ्रांसिस यंगहस्बैड ने सन1944 में 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' में 'दि लाइफ डिवाइन'का रिव्यू करते हुए श्रीअरविन्द के दार्शनिक व्यक्तित्व की बहुत गम्भीर समीक्षा की थी। उन्होंने लिखा था कि आधुनिक भारतीय लेखकों में श्रीअरविन्द क्रमशः कवि, समीक्षक, विद्वान, विचारक, राष्ट्रवादी, और मानवतावादी रूपों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण औऱ कदाचित सर्वाधिक रुचिकर है।वस्तुतः वे एक नये प्रकार के विचारक हैं जिन्होंने अपनी अन्तर्दृष्टि में पश्चिम की स्फूर्ति और पूर्व के प्रकाश का समन्वय किया है। उनकी कृतियों को पढ़ने का अर्थ है ज्ञान की सीमाओं का विस्तार करना।

प्रसिद्ध आयरिश लेखिका मोरवेना डोनेली ने श्रीअरविन्द की दार्शनिक विचार-धारा के बारे में 'फाउन्डिंग दि लाइफ डिवाइन' पुस्तक लिखी है जिसकी प्रशंसा सभी पत्र-पत्रिकाओं ने मुक्तकण्ठ से की है। मोरवेना डोनेली का विचार है कि आज विश्व में श्रीअरविन्द से अधिक महान विचारक और कोई नहीं है। सन् 1949 में प्रकाशित जी.एच.लेंगले की पुस्तक श्रीअरविन्द का ब्रिटिश पत्रों ने सहृदयतापूर्वक स्वागत किया था। प्रसिद्ध लेखक डोरोथी एव.रिचर्डसन ने एक पत्र में श्रीअरविन्द के समन्वयकारी व्यक्तित्व पर आश्चर्य व्यक्त किया था। एच.डी.लेविस ने अपनी पुस्तक 'फ़िलोसफ़ी ऑफ़ रिलीजन' में श्रीअरविन्द की बहुत प्रशंसा की है। हरबर्ट रीड ने श्रीअरविन्द के महाकाव्य 'सावित्री' को हर दृष्टि से महान बतलाया है।लन्दन में श्रीअरविन्द के प्रशंसकों का स्वाध्याय केन्द्र है जहाँ उनकी कृतियों का मनन होता है। लीड्स विश्वविद्यालय के वाइस-चांसलर सर चार्ल्स आर.मोरिस ने श्रीअरविन्द को 'महान, कवि, लेखक और भारतीयों का मुक्तिदाता' कहकर अपनी भावना व्यक्त की है।

यूरोपीय देशों में फ्राँस में श्रीअरविन्द के दिव्य जीवन के सिद्धान्त में सर्वाधिक रुचि दीख पड़ती है। रोमारोलाँ ने श्रीअरविन्द को ऋषि परम्परा में अन्तिम, जगत का शिक्षक और समन्वयकर्ता कहा है। उनके विचार में पश्चिम व पूर्व की प्रतिभा का पूर्णतम सामंजस्य श्रीअरविन्द ने किया है। श्रीअरविन्द के देह-त्याग पर फ्राँस के पत्रों ने श्रीअरविन्द पर विस्तार से लेख प्रकाशित किये थे। फ्रेंच अकादिमी के सदस्य आन्द्री सगफ्रेड ने श्रीअरविन्द को वैदिक ऋषियों की परम्परा में मानते हुए उनके देहावसान को राष्ट्रीय ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय घटना कहा था। पेरिस की श्रीअरविन्द सोसाइटी की ओर से समय-समय पर गोष्ठियाँ होती रहती हैं। एक सांस्कृतिक मासिक के सम्पादक जे.मासुइ ने कहा था कि यदि श्रीअरविन्द के विचारों की तुलना पश्चिम के तत्व-चिन्तकों से की जायें तो यही कहा जा सकता है कि जहाँ हीगेल पहुँचता है, वहाँ से श्रीअरविन्द उड़ान भरते हैं और हीगेल को पीछे छोड़ देते हैं। उसके शब्दों में, "मेरा विचार है कि टैगोर की यह भविष्यवाणी कि भारत श्रीअरविन्द की वाणी में संसार को अपना संदेश सुनायेगा पूर्णरूप से सच होने के पथ पर है।"

फ्रेंच में श्रीअरविन्द की प्रमुख कृतियों का अनुवाद हुआ है और हो रहा है आश्रम में फ्राँसीसी साधक श्रीसत्प्रेम की पुस्तक 'श्रीअरविन्द एण्ड दि एडवेंचर ऑफ कान्शसनेस' का फ्राँस में अभूतपूर्व स्वागत हुआ है। इसका अंग्रेज़ी रूपान्तर भी छप चुका है और जर्मन तथा इटेलियन संस्करण भी इन देशों में लोकप्रिय हो चुके हैं। फ्राँस के विश्वविद्यालयों में श्रीअरविन्द पर अनेक शोध-प्रबन्ध स्वीकृत हुए हैं।

श्रीअरविन्द की कृतियों के जर्मन अनुवादों की जर्मनी में बहुत माँग है। अनेक जर्मन विश्वविद्यालयों में श्रीअरविन्द पर सेमिनार आयोजित होते रहते हैं। जर्मनी में अनेक केन्द्र हैं जहाँ श्रीअरविन्द की कृतियों पर विचार-विमर्श होता है। प्रसिद्ध जर्मन विचारक ओ.वोल्फ की श्रीअरविन्द एवं उनकी शिक्षा से सम्बद्ध पुस्तक ने वहाँ अच्छी प्रसिद्धि पायी है। इसी तरह स्विटजरलैंड का श्रीअरविन्द केन्द्र वहाँ सेमिनार आदि का अयोजन करता रहता है। रूस में भी श्रीअरविन्द की रचनाएँ पढ़ी जाती हैं।

अप्रैल 1956 में रूसी जिमनास्टों का दल आश्रम आया था। श्रीमाँ ने उस अवसर पर कहा था कि हमें विश्वास है आज मानव परिवार की एकता की ओर एक पग और बढ़ाया गया है। इसी तरह जिन देशों में भी भारतीय संस्कृति और परम्परा का अध्ययन होता है, वहीं श्रीअरविन्द का व्यक्तित्व अमिट प्रभावशाली सिद्ध होता है।

पूर्वी अफ्रीका के अनेक नगरों में श्रीअरविन्द स्वाध्याय केन्द्र स्थापित किये गए हैं जहाँ श्रीअरविन्द की विचारधारा के प्रति आकृष्ट लोग एकत्र होकर चिन्तन-मनन करते हैं।इज़रायल की हिब्रू यूनिवर्सिटी में श्रीअरविन्द के विशेष अध्येता लूगो वर्गमैन ने अनेक लेख लिखकर वहाँ उनके महत्व को प्रतिपादित किया है। एक विद्वान सावित्री का हिब्रू में अनुवाद कर रहे हैं।

चीनी विद्वान तान-युग ज्ञान सन 1939 में आश्रम आए थे। श्रीअरविन्द के दर्शन कर उन्होंने कहा था कि जिस प्रकार भूतकाल में एक महान भारतीय ने चीन पर आध्यात्मिक विजय पायी थी, उसी प्रकार भविष्य में भी वह दूसरे महान भारतीय श्रीअरविन्द द्वारा जीता जाएगा। तान-युग-ज्ञान के शब्दों में, श्रीअरविन्द उस प्रकाश के वाहक हैं जो आज जगत् को ढकनेवाले अन्धकार को भगा देगा। तान –युग-ज्ञान ने अनेक लेख श्रीअरविन्द के विषय में लिखे जो प्रसिद्ध चीनी पत्रिकाओं में छपे थे।

सन 1954 में हाँगकाँग में श्रीअरविन्द दर्शन-चक्र की स्थापना हुई। इसके उद् घाटन समारोह में अनेक चीनियों ने भाग लिया। इस अवसर पर अपने सन्देश में श्रीमाँ ने कहा था कि शाश्वत प्रकाश का पूर्वी क्षितिज पर उदय हो। चीनी भाषा में श्रीअरविन्द की कई पुस्तकों का अनुवाद हो चुका है जो आश्रम से ही छपा है। ओसाका, जापान में श्रीअरविन्द सोसाइटी का केन्द्र है जहाँ नियमित कार्यक्रम होते रहते हैं।

उन सब व्यक्तियों का उल्लेख करना कठिन ही है जो श्रीअरविन्द के विचारों का प्रकाश लेकर जीवन-पथ पर बढ़ रहे हैं। श्रीअरविन्द आश्रम और निर्माणाधीन ऊषा-नगरी(ऑरोविल) में विभिन्न देशों के नागरिकों को कार्यरत देखकर विश्वैक्य और मानव-एकता का जो स्वरूप सामने आता है, वह अभिनन्दनीय है। मानव-मानव के बीच की अस्वाभाविक दीवार टूटने पर ही सच्ची एकता का अनुभव होता है। श्रीअरविन्द ने स्वयं लिखा है-"जब हम भगवान को अनुभव करते हैं और दूसरों को भगवान में अनुभव करते हैं, तभी सच्चा सामंजस्य आता है।"

पूर्वप्रकाशित कर्मधारा 1972 से

सृष्टि का दुःख-दर्द भगवान् स्वयं अपने ऊपर ले लेते हैं

माँ, दुःख-कष्ट अज्ञान और यंत्रणा से आते हैं। भगवती माता-सावित्री में भगवती माता अपने बच्चों के लिए जो दुःख-कष्ट झेलती हैं वह किस प्रकार का है?

क्योंकि वे उनकी प्रकृति में भाग लेती हैं। उनकी प्रकृति में भाग लेने के लिए ही वे धरती हैं। क्योंकि अगर वे उनकी प्रकृति में भाग न ले तो वे उन्हें आगे न बढ़ा सकेंगी। अगर वे अपनी परम चेतना में बनी रहें जहाँ कोई दुःख नहीं है, अपने परम ज्ञान और अपनी परम चेतना में बनी रहें तो मनुष्यों के साथ उनका कोई सम्पर्क ही न होगा। इसीलिए उन्हें मानव-चेतना और मानव-रूप धारण करना पड़ता है, ताकि वे उनके साथ सम्पर्क स्थापित कर सकें। हाँ, वे भूलती नहीं। उन्होंने उनकी चेतना अपना तो ली है, लेकिन उनका सम्बन्ध अपनी वास्तविक, परम चेतना के साथ बना रहता है। और इस तरह वे दोनों का मिला कर, जो लोग उस दूसरी चेतना में हैं उनसे सचेतन प्रगति करवा सकती हैं। लेकिन अगर वे मानव-चेतना को न अपनाती, अगर वे उनके दुःख न होते तो वे उनकी सहायता न कर पाती। उनका दुःख अज्ञान का दुःख नहीं हैः यह तादात्मय का दुःख है। यह इसलिए है, क्योंकि उन्होंने वही स्पन्दन स्वीकार किये हैं जो उनमें होते है, ताकि वे उनके सम्पर्क में आ सकें और उन्हें उनकी वर्तमान स्थिति में से बाहर निकाल सकें। अगर वे लोगों के साथ सम्पर्क न रखें तो उनका कोई भी अनुभव न कर सकेगा, कोई उनकी ज्योति को न सह सकेगा..। यह सब प्रकार के रूपों में, सब प्रकार के धर्मों में कहा गया है। उन्होंने बहुधा भागवत 'बलिदान' की बात कही है। एक दृष्टिकोण से यह सत्य है। यह स्वेच्छा से बलिदान है, पर है सत्यः पूर्ण चेतना, पूर्ण आनन्द, पूर्ण शक्ति को तेज कर बाह्य जगत् के अज्ञान को स्वीकार करना ताकि उसे अज्ञान में से निकाल सकें। अगर इस अवस्था को न स्वीकार किया जाता तो उसके साथ कोई सम्पर्क ही न होता। कोई सम्बन्ध न जुड़ता। अवतारों के आने का यही कारण है। अन्यथा उनकी ज़रूरत न होती। अगर भागवत चेतना और भागवत चेतना शक्ति सीधे अपनी पूर्णता के स्थान या अवस्था से कार्य कर सकती, अगर वे जड़ द्रव्य पर वहाँ से सीधे क्रिया कर सकती और उसका रूपान्तर कर पाती तो मनुष्य जैसा शरीर धारण करने की ज़रूरत ही न होती। तब 'सत्य' के लोक से पूर्ण चतेना द्वारा चेतना पर क्रिया करना ही पर्याप्त होता वस्तुतः शायद उस तरह क्रिया होती तो है लेकिन इतनी धीमी कि जब संसार को प्रगति करवानी हो, उसे तेज़ी से आगे बढ़ाना हो तो मानव-स्वभाव को स्वीकार करना ज़रूरी हो जाता है। मानव-शरीर धारण करने से अंशतः मानव-स्वभाव स्वीकारना, ज़रूरी हो जाता है। हाँ, अपनी चेतना खोने और 'सत्य' के साथ सम्पर्क खोने की जगह, अवतार इस चेतना को बनाये रखता है, इस 'सत्य' को बनाये रखता है और इन दोनों को जोड़ कर ही वह रूपान्तर की कमियाँ पैदा कर सकता है। लेकिन अगर उसने जड़ पदार्थ को न छुआ होता तो कुछ भी न कर पाता।

मानव जीवन के विकास में दुःख की भूमिका

अपर्णा

कहते हैं, दुःख तो मन का विकार है। श्री माँ कहती हैं, "शरीर को बीमार होने की बुरी आदत है। मन को दुखी होने की बुरी आदत है।" लेकिन फिर भी, दुःख तो है। हम में से कोई नहीं कह सकता कि हम कभी दुखी नहीं होते हैं।

दुःख का प्रयोजन, आवश्यकता, अनिवार्यता क्या है? हम ही दुःख को बुलाते भी हैं, हम दुःख से यहाँ तक कि प्यार भी करते हैं, और फिर कहते हैं हम दुखी हैं।

प्रश्न उठता है, जब जीवन के लक्ष्य को ले कर बैठे हैं, तो अनुभूति बहुत ज़रूरी है। हमें अनुभव करना है, अपने अंदर जाना है, और फिर दुःख को पहचानना है। और अगर स्वीकारना है, तो किस दृष्टिकोण से?

जब श्री माँ और श्री अरविन्द की बात करते हैं, तो एक तरफ़ माँ कहती हैं, "तुम जितने दुखी होते हो, मुझसे उतने दूर होते जाते हो।" तो फिर दुःख क्यों बनाया? और फिर, दुःख वस्तुतः है भी या नहीं? हमारी कल्पना ही है? हम कहते हैं ये सुख, ये संपत्ति, ये सब माया है। तो जब दुनिया की हर चीज़ माया है, तो हम दुःख को क्यों नहीं माया समझ लेते? बात ही ख़तम हो जाए। पर हम जब कोई सिनेमा भी देखते हैं, और उसमें दुःख आता है, जो हमारा बिलकुल भी नहीं है, हम उसके साथ इतने एकात्म हो जाते हैं, कि नायिका रोती है तो हम भी रोते हैं, दोनों मिल जाते हैं तो हम भी बड़े प्रसन्न हो जाते हैं। माँ भी कहती हैं, मुझे हिंदी सिनेमा इसलिए पसंद है, क्योंकि अंततः सब अच्छा हो जाता है, सुखान्त। तो अच्छा तो हमें सुख ही लगता है। पर सुख की अनुभूति करें कैसे जब तक दुःख का अनुभव नहीं है? बीमार पड़े और उसके बाद आराम मिल जाए, तब कितने अंदर से आवाज़ निकलती है - डॉक्टर साब बहुत आराम मिला, धन्यवाद्। लेकिन जब बीमार नहीं पड़े थे, तब इस आराम में हम क्यों नहीं आनंदित महसूस करते? ध्यान ही नहीं रहता।

तो, 'दुःख में सुमिरन सब करें' (संत कबीर) - बिना दुःख के हम स्मरण भी तो नहीं करते। कहीं यही तो भगवान की चालाकी नहीं है? एक योजना बना ली है। भगवान ने सब कुछ दिया मनुष्य को; बहुत प्यार करते हैं भगवान अपनी रचना को। मन दिया, उत्साह दिया, लक्ष्य दिया, प्रेम दिया, बहुत सारे उपहार देते देते उनके पास अंतिम चीज़ बची थी, 'शांति', वहाँ भगवान रुक गए। "ये नहीं दूँगा, वरना ये मुझे भूल जायेगा।" लेकिन बिना दिए नहीं मान रहे थे। जिसको हम प्रेम करते हैं, उसको हम सर्वस्व दे देना चाहते हैं, तो भगवान कैसे इस गुण से पीछे रहेंगे? उन्हीं का तो गुण है। अंत में उन्होंने सोचा, क्या करूँ? दूँ ना दूँ? इस दुविधा में रह के उन्होंने एक और चीज़ बनायी, 'अशांति', और मनुष्य से कहा, 'ले, तू दोनों ले जा; जब शांति पा जायेगा और मुझे विस्मृत करने लगेगा, तो ये अशांति आकर तुझे मेरी याद दिलाएगी, और तू वापस मेरे पास आ

जायेगा।" -- भगवान हमसे बिछुड़ना ही नहीं चाहते। और कहती हैं न माँ, "तुम क्या भगवान को चुनोगे, दरअसल भगवान तुमको चुनते हैं।" हमें केवल अपने अंदर पात्रता लानी है, हमारे अंदर अभीप्सा होनी है, बस। फिर भगवान चुन लेते हैं। और उनकी प्रक्रिया शुरू हो जाती है, कि उन्होंने तो चुन लिया, पर हमने उस चुनाव को स्वीकार किया नहीं? तब वो ये प्रक्रिया शुरू करते हैं; सीधे नहीं आएगा तो उँगली तो टेढ़ी करनी ही पड़ेगी। संभवतः प्रयोजन बस उतने से में ही होगा उनका, कि शांति को अशांति के द्वारा, मनुष्य को पुनः पुनः शांति पाने की प्रक्रिया में व्यस्त रखे; क्योंकि इसी प्रक्रिया में हम ईश्वर को याद करते हैं।

मुझे याद आ रहा है, एक सेमिनार में गयी थी, जिसमें बहुत बड़े बड़े चिकित्सक आये थे, होमियोपैथी, नेचुरोपैथी, एलॉपथी, हर तरफ के। वहाँ एक डॉक्टर अपना अनुभव बता रहे थे, कि उनको डायबिटीज़ बड़े हाई लेवल की थी; कहते हैं, इतना बुरा हाल होता था कि रात में मैं सो नहीं पाता था, पैर सुन्न लगते थे, और मैं घर से निकल जाता था, नंगे पैर सड़क पर चलता था, कि सड़क के उन कंकड़ों की चुभन संभवतः कुछ महसूस कराएगी पैरों को। यानि पैरों में जहाँ अनुभूति शून्य हो रही है, उन कंकड़ों की चुभन से वे थोड़ी देर के लिए कुछ एहसास करना चाहते थे।

दुःख के मूल में क्या है? - माँ कहती हैं, दरअसल मनुष्य के मूल में वो ईश्वरीय चेतना है, पर मन और प्राण की हठधर्मियों से, इनके बहकावे में, इनकी निम्न प्राणिक चेतना, निम्न मानसिक चेतना के वशीभूत, हम निम्न चेतना में गिर पड़ते हैं, और गिरना प्राय होता रहता है। ऐसी स्थिति में, हमें पुनः एक दम से रूपांतरित कर के, उच्च चेतना में पहुँचा देना संभव नहीं है। संभवतः उस समय, दुखों की परिस्थिति का होना, दुखों की अनुभूति प्रदान करना, ईश्वर का एक फ़ार्मूला होगा, कि उस चुभन से हमारे अंदर एक जागृति आये। उस चुभन से हमारे अंदर एक स्पंदन आता है, क्योंकि निम्न प्राणिक चेतना के वशीभूत जब हम तमस में पड़ जाते हैं, तो हम एक तरह से सुन्न हो जाते हैं, हम में कुछ करने की इच्छा नहीं होती, कोई उत्साह, कोई प्रेरणा नहीं काम करती, हम तो बस संतुष्ट हैं !

वो व्यक्ति जो समुन्द्र के किनारे पड़ा है, और उसे एक दार्शनिक आ कर कहता है, 'भाई तू कुछ करता क्यों नहीं? मैं देखता हूँ कि तो रोज़ यूँ ही पड़ा रहता है।' तो वो आदमी कहता है, 'उससे क्या होगा?' दार्शनिक कहता है, कुछ काम करोगे, तुम्हारे मन को अच्छा लगेगा, प्रेरणा जगेगी, उत्साह आएगा।' आदमी कहता है, 'उससे क्या होगा?' दार्शनिक कहता है, 'अरे चार लोगों को जानोगे, तुम्हारा समाज बनेगा, लोग तुम्हें जानेंगे।' आदमी कहता है, 'उससे क्या होगा?' तो इस तरह प्रश्नों के कई क्रम चलते हैं, दार्शनिक झुंझला जाता है, और कहता है, 'अरे बाबा, तब तू खुश रहेगा।' आदमी कहता है, 'वो तो मैं अब भी हूँ।'

हमारी ख़ुशी की, हमारे दुःख की, चेतना का स्तर क्या है? एक बच्चा छोटा सा खिलौना पा कर खुश हो जाता है, और वो खिलौना टूटते ही वो इतना रोता है, जैसे उसकी दुनिया उजड़ गयी।

और तुरंत एक दूसरा खिलौना ला के दे दें, और उसे पसंद आ जाए, तो वो सारा दुःख उसका मिट जाता है। यानि, पल में तोला, पल में माशा। उसके दुःख को देख कर हम हँसते हैं, एक खिलौना टूट गया, ये रो रहा है। ऊपर वाला भी शायद हमारे दुखों को देख कर हँसता है, कि बच्चे रो ले थोड़ी देर, पर ये मैंने जान बूझ के दिया है।

श्री अरविन्द की कहानी 'स्वप्न' में एक एक चीज़ इतने अच्छे से बताते हैं।

एक दरिद्र व्यक्ति है, हरिमोहन, बहुत निर्धन है, अच्छा है, बहुत ही प्यारा है, कृष्ण को बहुत प्यार करता है, पर निर्धनता से इतना दुखी है, कि हर समय कुढ़ता रहता है। वो अपनी अँधेरी कोठरी में बैठा है, एक फटी सी चटाई पर, और बैठे बैठे कह रहा है, 'कृष्ण भी क्या हैं, सब को तो सुख देता है, उस तीन कौड़ी शील (वहाँ का एक धनी व्यक्ति) को देखो, क्या ठाठ से रहता है, जबकि इतना पापी है। मैं तो इतना प्यार करता हूँ तुझे, कभी किसी का बुरा नहीं करता, हमेशा पुण्य के काम करना चाहता हूँ, और मुझे इतना कष्ट देते हैं! सामने आ जाएँ तो चाबुक से मारूँगा।'

और क्या ऐक्य है ईश्वर के साथ, क्या मिलता है, कि तुरंत घर में एक उजाला सा आया, और उसने देखा कि एक सुन्दर सा बालक वहाँ आ कर खड़ा हो गया। उसका रूप देखते ही ये समझ गया, हाथ में बंसी, सर पर मोर-मुकुट, अरे ये तो कृष्ण हैं। अरे, तू यहाँ कैसे आया? - मन में तो गुस्सा था, पर उसका सुन्दर रूप देख कर चुप रहा। कृष्ण बोले, 'अरे तूने ही तो बुलाया, तेरी इच्छा थी ना, चाबुक मारने की, देख मैं हाज़िर हूँ।' इतना प्यार था, इतना तादात्म्य था श्री कृष्ण के साथ कि उसे दुःख नहीं हुआ, कि हाय मैंने ऐसे क्यों सोचा। पर इतने प्यारे बच्चे को कोई मार सकता है क्या? तो पूछता है, 'सच बता, तूने अन्याय नहीं किया मेरे साथ? क्या तू पक्षपाती नहीं है?' कृष्ण कहते हैं, 'नहीं। वैसे मैं तो हाज़िर हूँ, तू मार ले; मुझे वो लोग बहुत पसंद हैं, जो मुझे अपना दोस्त समझते हैं, मुझे प्यार करते हैं, फिर वो भले ही मुझे मारने के लिए ही क्यों ना बुलायें, देख मैं दौड़ा चला आया। पर वैसे चाबुक मारने से पहले अगर तू सुने तो मैं कुछ बताना चाहता हूँ।'

कृष्ण ने उसकी आँख पर हाथ रखा, और थोड़ी देर में उसे लगा कि सारी दुनिया हिल रही है, दीवारें भागने लगी हैं। और अचानक जब वो होश में आता है, सामान्य चेतना में आता है, तो वो देखता है कि वो एक बड़े से महल में है, जहाँ एक बड़े ही शानदार बिस्तर पर, सर पकड़े हुए, दुखी मुद्रा में, एक वृद्ध बैठा है। कृष्ण ने कहा, 'अब मैं तुझे अंतर्दृष्टि देता हूँ।' ज़रा उसके अंदर झाँक। वो देखता है तो अंदर दुःख ही दुःख, इतनी चिंता, इतना तनाव, उसे विश्वास नहीं होता कि यही वो तीन कौड़ी शील है, जिसके वैभव को देख कर वो इतना जल रहा था, क्रुद्ध हो रहा था। उसके बेटे को उसने घर से निकल दिया है, लेकिन वृद्धावस्था में बेटा याद आ रहा है; पर अहंकार है, मैं उसके सामने झुकूँगा नहीं, गलती नहीं मानूँगा, उसे क्यों बुलाऊँ, तो दुखी है। और बेटी को घर से निकल दिया था, क्योंकि उस पर लोगों ने कलंकिनी का आरोप लगाया था। मन में वो जानता है कि उसकी बेटी निर्दोष है, लेकिन, दुनिया के डर से अपनी बेटी को भी

निकल दिया। और उसके लिए भी दुखी है; और भी कितने संताप उसके अंदर हैं, ये तो दंग रह गया। फिर कृष्ण उसे वहाँ से निकाल कर ले जाते हैं, कहते हैं, 'देखा तूने?' हरिमोहन बोला, 'ये क्या बात है, कुछ समझ में नहीं आया। हो सकता है कि ये हमारे कर्मों का फल होगा, कि पिछले जन्म में मैं इतना पापी था कि तूने इस जन्म में मुझे ऐसे रखा, पर इस जन्म में तो मुझे अपने में पाप की भावना नहीं दिखती; और अगर ये तीन कौड़ी शील पिछले जन्म में पुण्यात्मा था, जिसके कारण तूने इतना वैभव दिया है, तो इस जन्म में तो उसमें कहीं भी कुछ अच्छा नहीं दिखता। ये मेरी समझ में नहीं आता।' कृष्ण ने कहा, अभी आएगा तुझे समझ में, और उसके बाद एक बार फिर से उसे ले जाते हैं, जहाँ उसे तीन कौड़ी शील के पुराने जन्म का अनुभव कराते हैं, जिसमें वह दानवीर कर्ण के समान था, बहुत दान करता था, परन्तु उसके अंदर पुण्य की भावना नहीं थी, लोगों के प्रति प्रेम नहीं था। वो दान करता था यश कमाने के लिए, और सारी दुर्भावनाएँ उसने अपने अंदर दबा के रखी थीं, जिनका प्रतिफल वो अभी भोग रहा है। वह पिछले जन्म में बहुत अच्छा बेटा, अच्छा पति, अच्छा पिता था; उसके भी और पिछले जन्म को दिखलाते हैं कृष्ण, पर सारे अच्छे कर्मों के बाद भी उसके अंदर प्रेम की भावना नहीं थी। एक जगह वो एक वाक्य लिखते हैं, 'नीरस पुण्य करते करते, तुम आज दुखी हो, और नीरस पाप करते करते वो दुखी हो गया। उसे अब पाप में कोई रस नहीं आ रहा है, करते करते वह एक यांत्रिक मनोवृत्ति बन जाती है, हमारा स्वभाव बन जाता है, और फिर हम खुद ही ऊबने लगते हैं, तो वो हमारे लिए यंत्रणा बन जाती है, दुःख बन जाता है।

इस तरह की बातें करते करते उन्होंने उसको स्वर्ग नरक का भी अनुभव करा दिया। और कहा, ये सारे नरक हमारे अंदर की भावनायें ही हैं, जिन्हें हम दबा के रखते हैं। हम विभिन्न लोकों में जा कर उन्हें भोगते हैं; लेकिन इन सब में कहीं भी वो सच नहीं है, जो सच ईश्वर के सान्निध्य में है। इस तरह की बातें उसको अच्छी नहीं लगती हैं, वो कहता है, 'सब तो मान लिया, चलो, मन का विकार है, कर्मफल है, लेकिन तुम सीधी सीधी भौतिक स्तर की बात पर आओ। भूख के कारण कोई तड़प रहा है, शारीरिक दर्द से कोई बहुत कष्ट में है, इस भूखी अवस्था में, जब पेट की ज्वाला तड़पाये, प्यास लगे, और कुछ न मिले, तो कोई तुम्हें क्या याद करेगा?

भूखे भजन न होय गोपाला....।

कृष्ण ने कहा, चलो, तुम्हें ये भी दिखा देता हूँ; और उसको फिर एक जगह ले जाते हैं। एक खाली, वीरान जगह है, वहाँ पर एक सन्यासी बैठा है, पता नहीं कितने समय से तपस्या में है, समाधिस्त है। इतने दिनों से है कि उसके चारों और वाल्मीकि/ चीटियों के घर वाली मिट्टी ही मिट्टी है। उसका पूरा शरीर घिरा हुआ है, पर वो शांत मन से समाधि में है। कृष्ण फिर उसे अंतर्दृष्टि देते हैं, उसके सर पर हाथ रखते हैं, तो उसे सन्यासी का पूरा अंतर्मन परदे के ऊपर उसे दिखने लगता है, उसके अंदर की हर सतह पर कृष्ण कृष्ण कृष्ण लिखा हुआ है। वह केवल कृष्ण को ही जप रहा है, उन्हीं से अपने अंदर खेल रहा है। पूरे समय उसकी चेतना कृष्ण के साथ है। साथ ही साथ हरिमोहन यह भी देखता है कि सन्यासी का शरीर कष्ट में है, दो तीन दिन से उसको भोजन ही

नहीं मिला है। वह कृष्ण को कहता है, 'ये बाबा तुझे इतना प्यार करते हैं, पर ये कितने भूखे हैं, तुझे दिखाई नहीं देता, कैसा निष्ठुर है, इन्हें भोजन भी नहीं देता। यहाँ जंगल में बैठे हैं, इन्हें कौन देगा भोजन?' कृष्ण कहते हैं, 'मैं दूंगा। पर तूने देखा नहीं कि वह खुद बिलकुल भी यंत्रणा में नहीं हैं?' इतने में वो देखता है, कि एक कृष्ण तो उसके पास खड़े हैं, और एक और कृष्ण सामने से चले आ रहे हैं, अपने हाथ में थाली लिए। और सन्यासी के पास पहुँच कर कहते हैं, चलो सखा, खा लेते हैं। सन्यासी कहता है, दो दिन से मुझे भूखा रखा है, चल आ, अब साथ बैठ कर खायें। और हरिमोहन देखता है, विभोर हो कर, कैसे दोनों बैठ कर खा रहे हैं, छीना-झपटी कर रहे हैं, और चारों तरफ सिर्फ आनंद है।

कुछ ही देर में कृष्ण वहाँ नहीं होते, और हरिमोहन अपने को अपने कमरे में पाता है, सोचता है, ये कैसा स्वप्न था? मन ही मन धन्य महसूस करता है, कि कृष्ण ने मुझे बता दिया। मैं किस पीड़ा की बात करता हूँ।

आगे की कहानी इस प्रकार है - जब कृष्ण जाने लगते हैं, तब उससे कहते हैं - "रात अधिक हो गयी है, यदि मैं घर ना लौटा तो घर वाले मुझसे नाराज़ होंगे, मुझे पीटेंगे। संक्षेप में कहता हूँ, जिन स्वर्ग और नरकों को तुमने देखा है, वे सब स्वप्न-जगत के हैं, कल्पना-सृष्ट हैं। मनुष्य मरने के बाद स्वर्ग, नरक जाता है अपने गत जन्म के भाव को अन्यत्र भोगता है।..."

कई बार लोग सोचते हैं, मर जाएँ तो छुट्टी मिलेगी, पर जिन चीज़ों से भागते हैं, उन्हें हम वहाँ भी भोगते हैं। ... तुम पूर्व जन्म में पुण्यवान थे किन्तु उस जन्म में प्रेम को तुम्हारे हृदय में स्थान न मिला, ना तुमने ईश्वर से प्रेम किया, ना मनुष्य से; इसलिए, प्राण त्याग करने के बाद स्वप्न-जगत में, उस भद्रपल्ली में निवास (जिस जन्म में वो एक अच्छा पिता, अच्छा स्वामी, अच्छा पुत्र था) करते हुए तुमने पूर्व जन्मों के भावों का भोग करा और, भोग करते हुए तुम उस से ऊब गए। तुम्हारे प्राण व्याकुल होने लगे, और वहाँ से निकल कर तुम धूलि में नरक में वास करने लगे। अंत में जीवन के पुण्य फलों का भोग कर पुनः तुम्हारा जन्म हुआ। उस जीवन में छोटे मोटे नैमित्तिक दानों को छोड़, नीरस व्यवहार को छोड़, किसी के अभाव को दूर करने के लिए तुमने कुछ नहीं किया। इसलिए, इस जन्म में तुम्हें इतना अभाव है। और अभी जो तुम नीरस पुण्य करते हो, उसका कारण यही है कि केवल स्वप्न-जगत के भोग से पाप-पुण्य का सम्पूर्ण क्षय नहीं होता। इसका सम्पूर्ण क्षय तो पृथ्वी पर कर्मफल भोगने से ही होता है। तीन कौड़ी गत जन्म में दाता कर्ण थे, हज़ारों व्यक्तियों के आशीर्वाद से इस जन्म में लखपति हुए हैं। उन्हें किसी वास्तु का अभाव नहीं, परन्तु उनकी चित्त शुध्दि ना होने के कारण उन्हें इस समय अपनी अतृप्त कुप्रवृत्तियों को पाप द्वारा तृप्त करना पड़ रहा है।

कर्म का रहस्य कुछ समझ में आया? न तो ये पुरस्कार है, न दंड। यह है अमंगल द्वारा अमंगल की, और मंगल द्वारा मंगल की सृष्टि।

यह है प्रकृति का नियम, पाप अशुभ है, उसके द्वारा दुःख की सृष्टि होती है, पुण्य शुभ है, उसके द्वारा सुख की सृष्टि होती है। यह व्यवस्था चित्त की शुद्धि के लिए, अशुभ के विनाश के

लिए की गयी है।

देखो हरिमोहन, पृथ्वी मेरी वैचित्रमयी सृष्टि का एक अति-सूक्ष्म अंश है, किन्तु कर्म द्वारा अशुभ का नाश करने के लिए तुम लोग वहाँ जन्म ग्रहण करते हो। जब पाप-पुण्य के हाथों से परित्राण पा तुम लोग प्रेम-राज्य में पदार्पण करते हो, तब इस कार्य से छुटकारा पा जाते हो।अगले जन्म में तुम भी छुटकारा पा जाओगे। मैं अपनी प्रिय भगिनी - शक्ति, और उसकी सहचरी 'विद्या' को तुम्हारे पास भेजूंगा; परन्तु देखो, एक शर्त है, तुम मेरे खेल के साथी बनोगे, मुक्ति नहीं माँगोगे, राज़ी हो? हरिमोहन ने कहा - कन्हैया तूने बड़ा उपकार किया, तुझे गोद में ले प्यार करने की बड़ी इच्छा है, मानो अब इस जीवन में कोई तृष्णा नहीं रह गयी।"

ये जो प्रेम का महत्व हम पढ़ते हैं, बिना प्रेम के, ईश्वर क्या, हम सामान्य जीवन में भी सुख नहीं पा सकते। अपनों को नहीं पा सकते। उस प्रेम को उन्होंने हरिमोहन में किस तरह से पैदा कर दिया, कि जो चाबुक मारने जा रहा था, अब वो कहता है, मन हो रहा है तुझे गोद में बैठा लूँ।

हरिमोहन की इस कहानी के साथ, दुःख की स्थितियाँ ज्ञान के माध्यम से तो बता दी गयीं, कि जो दुःख है वो अज्ञान की अवस्था है। एक जगह मैंने पढ़ा था, 'अन्धकार का अपना कोई अस्तित्व नहीं है, अंधकार केवल प्रकाश की अनुपस्थिति है।' वैसे ही अज्ञान भी ज्ञान की अनुपस्थिति है। और दुःख आनंद की अनुपस्थिति है। और आनंद केवल और केवल ईश्वर के सान्निध्य में है, ईश्वरीय चेतना में रहने पर है। तो ईश्वरीय चेतना तक, जिससे कि हम कट गए है, उस तक पहुँचने का रास्ता कई बार दुःख के रूप में आता है। क्योंकि उस तमस से निकलना बड़ा ही दुखद होता है।

सभी मानवीय दुःखों का एकमात्र उपचार :
भागवत प्रेम।
भगवान् की ओर मुड़ो,
तुम्हारे सभी दुःख गायब हो जायेंगे।

खाली समय का उपयोग करना

श्रीमाँ

अस्तित्व के प्रवाह में कितनी ही बार एक तरह का खालीपन आता है, एक व्यस्तताहीन क्षण, कुछ मिनट, कभी-कभी ज़्यादा भी। तब तुम क्या करते हो ? उसी क्षण तुम दिल-बहलाव की चेष्टा करते हो और अपना समय काटने के लिए कोई-न-कोई मूर्खता खोज निकालते हो। यह एक सामान्य तथ्य है, मनुष्य छोटे से लेकर बड़े तक, अपने समय का अधिकांश अपने-आपको ऊब से बचाने में बिताता है। उसके लिए ऊब ही सबसे बड़ा हौआ है और ऊब से बचने का उपाय है, बहुत सारी मूर्खताएँ करना।

खैर, एक और उपाय है जो उससे कहीं अधिक अच्छा है : कुछ स्मरण करना।

जब तुम्हारे पास थोड़ा समय हो, चाहे वह एक घण्टा हो या कुछ मिनट, अपने-आप से कहो, "अपने-आपको केन्द्रित करने का, अपने-आपको इकट्ठा करने का, अपने जीवन के मूल कारण को फिर से जीने का और जो 'सत्य' और 'सनातन' है उसे अपने-आपको समर्पित करने का मेरे पास समय है।" हर बार जब तुम बाहरी परिस्थितियों से परेशान न होओ तब अगर तुम यह करने की सावधानी बरतो तो देखोगे कि तुम राह पर बहुत जल्दी बढ़ते जा रहे हो। अपना समय बकवास में अनावश्यक चीज़ें करने में और ऐसी चीजें पढ़ने में गँवाने की जगह, जो चेतना को गिराती हैं, यह तो अच्छी-से-अच्छी दशाओं के चुनाव की बात है, मैं दूसरी मूर्खताओं की बात ही नहीं कर रही जो बहुत ज़्यादा गम्भीर होती हैं, अपना मनोरंजन करने की जगह, ऐसा करने की जगह कि समय जो पहले से ही कम है और भी कम हो जाये, और फिर देखना कि जीवन के अन्त में हमने तीन-चौथाई अवसर खो दिये हैं - तब फिर तुम दोनों हाथों से कौर निगलने लगते हो, लेकिन उससे कोई फायदा नहीं होता - ज्यादा अच्छा है संयत होना, सन्तुलित होना, धैर्यवान होना, शान्त होना और कभी भी दिये गये अवसर को न गंवाना। इसका मतलब है कि तुम्हारे सामने जो मिनट व्यस्तताहीन होता है उसका सच्चे ध्येय के लिए उपयोग करना।

जब तुम्हारे पास करने के लिए कुछ न हो, तुम क्षुब्ध हो उठते हो, तुम भागते-फिरते हो, मित्रों से मिलने चले जाते हो, घूमने निकल पड़ते हो - मैं मात्र अच्छी चीज़ों की ही बात कर रही हूँ, मैं उन चीज़ों की बात नहीं करना चाहती जो स्पष्ट रूप से ऐसी हैं जिन्हें नहीं करना चाहिये - इन सब की शान्तिपूर्वक, तुम्हारे लिए जो सम्भव हो उसके अनुसार, आकाश के नीचे, समुद्र के सामने या पेड़ों-तले बैठ जाओ (यहाँ तो सब कुछ है), और इनमें से किसी एक चीज़ को सिद्ध करने की कोशिश करो कि किस तरह जीना चाहिये? इस पर विचार करो कि तुम क्या करना चाहते हो और क्या करना चाहिए ? अज्ञान, मिथ्यात्व और दुःख, जिसमें तुम जीते हो, उससे बच निकलने का उत्तम उपाय क्या है?

-

भारतीय संस्कृति के एक बुद्धिवादी आलोचक – 3

श्री अरविंद

(पिछले अंक में –

इतना ही नहीं कि गणित, ज्योतिष, रसायन, चिकित्साशास्त्र और शल्यतंत्र में, प्राचीन काल में भौतिक ज्ञानकी जितनी भी शाखाओं का अनुशीलन किया जाता था उन सभी में भारत अग्रगण्य था, अपितु यूनानियों ही के समान वह भी अरबवासियों का गुरु था जिनसे यूरोप ने वैज्ञानिक जिज्ञासा की अपनी खोयी हुई आदत पुनः प्राप्त की और वह आधार उपलब्ध किया जिस के सहारे आधुनिक विज्ञान अपने मार्गपर अग्रसर हुआ। अनेक दिशाओं में भारत को ही खोज का प्रथम श्रेय प्राप्त हुआ, - इसके अनेकानेक दृष्टांतों में से हम यहाँ केवल दो ज्वलंत दृष्टांत लेते हैं, एक तो है गणित में दशमलव-पद्धति और दूसरा यह ज्ञान कि ज्योतिष में पृथ्वी एक गतिशील पिंड है, - गैलिलियो से सदियों पहले एक भारतीय ज्योतिषी ने कहा था 'चला पृथ्वी स्थिरा भाति' अर्थात् पृथ्वी गतिशील है और वह केवल देखने में ही स्थिर प्रतीत होती है। यह महान् विकास एक ऐसे राष्ट्र में, जिसके विद्वान और विचारक दार्शनिक प्रवृत्तियों से प्रेरित होकर प्रकृति के अध्ययन से परांग्मुख हो जाते हों, कदाचित ही संभव हो पाता।)

यह सही है कि औसत यूरोपवासी ने भारत के विषय में जो बातें सुन रखी हैं अथवा इसकी विचाराधारा में यूरोपीय विद्वानों को जो चीजें अत्यधिक पसंद आती या प्रभावित करती हैं वे यही हैं, तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि ये ही भारत की संपूर्ण चिंतनधारा है, चाहे इनका प्रभाव कितना ही अधिक क्यों न रहा हो। भारत की प्राचीन सभ्यता ने अपना आधार अत्यंत स्पष्ट रूप में चार मानवीय पुरुषार्थों पर रखा था। उनमें से पहला था कामना और उपभोग, दूसरा - मन और शरीर के भौतिक, आर्थिक तथा अन्य उद्देश्य एवं आवश्यकताएँ, तीसरा - वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का नैतिक आचार-व्यवहार एवं यथार्थ धर्म, और अंतिम, आध्यात्मिक मुक्ति; काम, अर्थ, धर्म, मोक्ष। संस्कृति और सामाजिक संगठन का काम था इन विषयों में मनुष्य का मार्गदर्शन करना, इनकी पूर्ति और पुष्टि करना तथा उद्देश्यों और बाह्य आचारों में किसी प्रकार का सामंजस्य स्थापित करना। अत्यंत विरले व्यक्तियों को छोड़कर शेष सब के लिये मोक्ष से पहले तीन सांसारिक उद्देश्यों की पूर्ति कर लेना आवश्यक था; जीवन के अतिक्रमण से पहले जीवन की परिपूर्णता प्राप्त करना आवश्यक था। पितृ ऋण, समाज-ऋण और देव-ऋण की उपेक्षा नहीं की जा सकती थी; पृथ्वी को उसका उचित भाग और सापेक्ष जीवन को उसकी क्रीड़ा का अवसर देना जरूरी था, यद्यपि यह माना जाता था कि इसके परे ही स्वर्ग का महान् सुख या निरपेक्ष की शांति विद्यमान है। सर्व साधारण को इस के पहले गुहा और तपोवन में भाग जाने का उपदेश नहीं दिया जाता था।

प्राचीन भारत की सुव्यवस्थित जीवनधारा और उसके साहित्य का जीवंत वैचित्र्य किसी नितांत पारलौकिक प्रवृत्ति के साथ मेल नहीं खाते। संस्कृत का विपुल साहित्य मानवजीवन का ही साहित्य है; यह ठीक है कि कुछ एक दार्शनिक और धार्मिक कृतियाँ जीवन के त्याग का प्रतिपादन करती है, किंतु ये भी साधारणतः इसके मूल्य की अवज्ञा नहीं करतीं। यद्यपि भारतीय मन ने आध्यात्मिक मुक्ति को सर्वोच्च महत्त्व प्रदान किया -- और प्रत्यक्षवादी मनोवृत्ति वाला व्यक्ति चाहे कोई कुछ भी क्यों न कहे, किसी-न-किसी प्रकार की आध्यात्मिक मुक्ति ही मानव-आत्मा की उच्चतम संभावना है -- तथापि उसकी दिलचस्पी केवल इसी में नहीं थी। वह नीति, विधि-विधान

(Law) राजनीति, समाज, विभिन्न विज्ञान, कला-कौशल और शिल्पविद्या, मानव-जीवन से संबंध रखनेवाली सभी चीजों की ओर आध्यात्मिक मुक्ति के समान ही ध्यान देता था। इन विषयों पर उसने खूब गहराई और छानबीन के साथ विचार किया और अधिकार के साथ ओजस्वी भाषा में इनका निरुपण किया। एक ही उदाहरण काफी होगा, शुक्रनीति राजनीतिक और प्रशासनिक प्रतिभा का कितना उत्कृष्ट स्मारक है! एक महान् सभ्य जाति के क्रियात्मक संगठन का कैसा दर्पण है। भारतीय कला सदा देवालयों की ही वस्तु नहीं रही,- यह ऐसी इस कारण प्रतीत होती थी कि इसका महत्तम कार्य देवालयों और गुहा-मंदिरों में ही बचा रहा; किंतु पुराना साहित्य इस बात का साक्षी है और राजपूत तथा मुगल चित्रकारियों से भी हमें पता चलता है कि भारतीय कला राजदरबार और नगर की तथा जाति के जीवन और सांस्कृतिक विचारों की सेवा में भी उतनी ही तत्पर थी जितनी कि मठ-मंदिरों और उनके उद्देश्यों की सेवा में। भारत में स्त्रियों और पुरुषों को जो शिक्षा दी जाती थी वह आधुनिक युग से पहले की और किसी भी शिक्षा-प्रणाली से अधिक समृद्ध, व्यापक और बहुमुखी थी। जो लेख इन बातों को प्रमाणित करते हैं वे आज सुलभ हैं और उन्हें जो चाहे पढ़ सकता है। अब समय आ गया है जब कि यह तोता-रटन की भारतीय सभ्यता अपने स्वरूप से ही अव्यावहारिक, दार्शनिक, निवृत्तिमार्गी और जीवन-विरोधी है, बंद हो जानी चाहिये और इसे अपना स्थान एक सच्चे और समझदारी के साथ किये गये मूल्यांकन को दे देना चाहिये।

परंतु यह पूर्णतः सत्य है कि भारतीय संस्कृति ने मनुष्य के अंदर की उस चीज को, जो लौकिक एषणा के ऊपर उठ जाती है, सदैव सर्वोच्च महत्व प्रदान किया है; इसने परमोच्च और कष्टसाध्य स्व-अतिक्रमण के लक्ष्य को मानव-प्रयास के शिखर के रूप में माना है। इसकी दृष्टि में आध्यात्मिक जीवन बाहरी शक्ति-सामर्थ्य और उपभोग के जीवन से अधिक उदात्त वस्तु है, चिंतनशील व्यक्ति कर्मी की अपेक्षा और आध्यात्मिक मनुष्य विचारक की अपेक्षा महान् है। ईश्वर में निवास करनेवाली आत्मा केवल बाह्य मन में निवास करनेवाली या केवल मनोमय और प्राणमय देह की मांगों और उसके सूत्रों के लिये जीने वाली आत्मा से अधिक पूर्ण है। विशिष्ट पश्चिमी और विशिष्ट भारतीय मनोवृत्ति में जो भेद है वह इसी बात में है। पश्चिम ने धार्मिक मनोवृत्ति अभ्यास के द्वारा प्राप्त की है, यह उसके स्वभाव का अंग नहीं है और इसे उसने सदा कुछ शिथिलता के साथ ही धारण किया है। भारत सदैव उन पीछे की ओर अवस्थित लोकों में विश्वास करता आया है जिनका एक बाह्य कक्ष-मात्र यह स्थूल जगत् है। उसने सदा ही हमारे अंदर एक आत्मा को देखा है जो मानसिक और प्राणिक सत्ता से महान् है, हमारे अहं से भी महान् है। उसने सदैव, उस निकटस्थ एवं अंतर्यामी सनातन के आगे अपने हृदय और मस्तिष्क को झुकाया है जिसमें इस कालगत जीव का अस्तित्व है और मनुष्य के अंदर स्थित जिस सनातन की ओर यह जीव उत्तरोत्तर आत्म-अतिक्रमण के लिये मुड़ता है। अद्भुत गायक और भगवती माता के भाव-विभोर भक्त एक बंगाली कवि की यह भावना कि-

"एमन मानव जमीन रइलो पतित
आबाद कोरले फलतो सोना'"

अर्थात्-"आहा, कैसा समृद्ध है यह मनुष्य-रूपी खेत जो यहां बंजर पड़ा है! यदि इसे जोता जाय तो यह सुनहली फसल से लहलहा उठेगा," मानव जीवन के संबंध में वास्तविक भारतीय भाव को व्यक्त करती है। परंतु भारतीय मन उन महत्तर आध्यात्मिक संभावनाओं से अत्यंत आकृष्ट होता है जो पार्थिव जीवों में से केवल मनुष्य में ही निहित है। प्राचीन आर्य संस्कृति समस्त मानव संभावनाओं को मान्यता देती थी, पर आध्यात्मिक संभावनाओं को वह सर्वोच्च स्थान प्रदान करती थी और अपनी चार वर्षों तथा चार आश्रमों की प्रणाली में उसने जीवन को एक के बाद एक आनेवाले स्तरों के अनुसार क्रमबद्ध किया था। बौद्ध धर्म ने सबसे पहले संन्यास के आदर्श और भिक्षु-प्रवृत्तिको अतिरंजित और विपुल रूप में प्रसारित किया, स्तर परंपरा को मिटा डाला और संतुलन को भंग कर दिया। इसकी विजयी विचार-धारा ने केवल दो ही आश्रमों को जीवित रहने दिया, गृहस्थ और संन्यासी, साधु और साधारण मनुष्य; इसने एक ऐसा प्रभाव डाला जो आजतक विद्यमान है। धर्म में इस प्रकार की उलट-पलट करके ही हम देखते हैं कि, विष्णु पुराण में एक नीति-कथा के बहाने इस पर प्रचंड आक्रमण किया गया है, क्योंकि अपनी तीव्र अति और परस्पर विरोधी सत्यों को कठोर प्रणाली के द्वारा इस ने समाज जीवन को उसमें दुर्बल कर दिया। परंतु बौद्ध धर्म का भी एक और पक्ष था जो कर्म और सृजन की ओर मुड़ा हुआ था, जिसने जीवन को एक नया प्रकाश और नया अर्थ दिया, नयी नैतिक और आदर्श शक्ति प्रदान की। इसके बाद भारतीय संस्कृति की प्रसिद्धतम दो महास्ताब्दियों के अंत में शंकर का महान् मायावाद आया। तब से जीवन की यह कहकर अत्यधिक अवहेलना की जाने लगी कि यह एक मिथ्या या आपेक्षिक चीज है और अंततः जीने लायक नहीं है, इस योग्य नहीं है कि इसे हम अपनी स्वीकृति दें और इसके उद्देश्यों पर अड़े डटे रहें। परंतु यह सिद्धांत सब ने स्वीकार नहीं किया, बिना संघर्ष किये यह प्रवेश ही नहीं पा सका, यहांतक कि शंकर के प्रतिपक्षियों ने प्रच्छन्न बौद्ध कहकर उनकी निंदा भी की। परवर्ती भारतीय मन पर उनके मायावादी सिद्धांत का अत्यंत प्रबल प्रभाव पड़ा है। किन्तु जनसाधारण के विचार और भाव का पूर्ण रुप से निर्माण इसने कभी नहीं किया। जनता पर तो उन भक्ति प्रधान धर्मों का ही अधिक घनिष्ठ प्रभाव पड़ा है और उत्तरोतर बढ़ता रहा है जो जीवन में नित्य सत्ता की शुद्ध नीरवता को विकृत करनेवाली आधी-अंधेरी और आधी-उजली माया के नहीं बल्कि भगवान की लीला के ही दर्शन करते हैं। यदि उन्होंने (उन धर्मों ने) उस कठोर आदर्श को निर्बल नहीं किया तो उसे कोमल अवश्य बना डाला। अभी हाल में ही शिक्षित भारतीयों ने अंग्रेज और जर्मन विद्वानों के विचारों को स्वीकार किया है, कुछ समय के लिये शंकर के मायावाद को हमारे दर्शन का पूर्व सार नहीं तो एकमात्र उच्चतम तत्व माना है और इसे अनन्य उच्चता के पद पर प्रतिष्ठित किया है। परंतु आज इस प्रवृति के विरुद्ध भी एक प्रबल प्रतिक्रिया हो रही है, उस प्रतिक्रिया का उद्देश्य जीवन-विहीन आत्मा के स्थान पर आत्मा-विहीन जीवन की प्रतिष्ठा करना नहीं बल्कि मन, प्राण और शरीरपर आत्मा का प्रभुत्व स्थापित करना है। तथापि यह सत्य है कि

सन्यास का आदर्श, जो हमारी संस्कृति के प्राचीन ओजस्वी युग में जीवन का भव्य शिखर था, जो शाश्वत सत्ता की और उठा हुआ था, आने पर इसका भारी-भरकम गुंबज बन गया और अपनी एकाकी एवं प्रभावशाली महानता के बोझ के नीचे शेष सारी अट्टालिका को चकनाचूर करने लगा।

निराशावाद भारतीय मन की ही कोई निराली विशेषता नहीं है: यह सभी उन्नत सभ्यताओं के विचार का अंग रहा है। यह ऐसी संस्कृति का चिह्न होता है जो पुरानी हो चुकी हो, एक ऐसे मन का फल होता है जिसने बहुत लंबा जीवन बिताया हो, बहुत अधिक अनुभव किया हो, जीवन की थाह ली हो और उसे दुःखों से परिपूर्ण पाया हो, सुख और सफलता की थाह लेकर यह अनुभव किया हो कि सब कुछ निःसार है, आत्मा का सिर-दर्द है और इस सूर्य-चाँद के राज्य में कुछ भी नया नहीं है, अथवा यदि है भी तो उसकी नवीनता केवल चार दिन की चाँदनी है। भारत के समान ही यूरोप में भी निराशावाद का बोलबाला रहा है, और निश्चय ही, यह एक अजीब बात है कि सबसे अधिक जड़वादी जाति भारतीय आध्यात्मिकता पर यह लांछन लगाये कि इसने जीवन के मूल्यों को गिरा दिया है। क्योंकि, जो जड़वादी विचार मानवजीवन को सर्वथा भौतिक और नाशवान् समझता है उससे बढ़कर निराशाजनक और क्या हो सकता है? सच पूछा जाय तो भारतीय विचार के अत्यंत वैराग्यवादी स्वर में भी कोई ऐसी चीज नहीं है जो यूरोपीय निराशावाद के कुछ मतों में पाये गये घोर अंधकार के समान हो।

इन सब से युक्त मध्यकालीन धर्म का स्वरूप ऐसे कष्ट और आतंक से परिपूर्ण है जो भारतीय मन के लिये विजातीय है, क्योंकि उसके लिये धार्मिक आतंक, सचमुच ही, एक विदेशी वस्तु है, संसार का दुख है तो सही किन्तु शोक की सीमारेखा से परे वह आध्यात्मिक शांति के आनंद में या एक हर्षातिरेक में विलीन हो जाता है। बुद्ध की शिक्षा में दुःख पर तथा वस्तुओं की नश्वरता पर अत्यधिक बल दिया गया था, परंतु नैतिक आत्म-विजय और शांत ज्ञान की वीरतापूर्ण भावना के द्वारा उपलब्ध बौद्ध निर्वाण एक अनिर्वचनीय शांति और सुख की अवस्था है जिसका द्वार ईसाइयों के स्वर्ग-लोक की तरह केवल इने-गिने लोगोंके लिये ही नहीं बल्कि सबके लिये खुला है। वह उस शून्य निवृत्ति से अत्यंत भिन्न है जो दुःख-दर्द और संघर्ष से हमारी यांत्रिक मुक्ति है।

वैराग्य का थोड़े-बहुत के अंश बिना कोई भी संस्कृति महान् एवं पूर्ण नहीं हो सकती; क्योंकि वैराग्य का अर्थ है आत्मत्याग और आत्मविनय जिनके द्वारा मनुष्य अपने निम्न आवेगों का दमन करके अपनी प्रकृति के महत्तर शिखरों की ओर आरोहण करता है। भारतीय वैराग्यवाद न तो दुःख-कष्ट की विषादपूर्ण शिक्षा है और न अस्वास्थ्यकर कृच्छ साधना के द्वारा शरीर का दुःखदायी निग्रह है, बल्कि वह तो आत्मा के उच्चतर हर्ष एवं पूर्ण स्वामित्व की प्राप्ति के लिये एक उदात्त प्रयत्न है। आत्मविजय का महान हर्ष, आंतरिक शांति का निश्चल हर्ष, परम आत्म-अतिक्रमण का शक्तिशाली हर्ष आदि उसके अनुभव का सार-तत्त्व है। देह द्वारा विमोहित या बाह्य जीवन तथा उसके चंचल प्रयत्न एवं अस्थायी सुखों में अति आसक्त मन ही वैरागी के प्रयत्न को श्रेष्ठता या आदर्शवादी उच्चता से इंकार कर सकता है। किन्तु सभी आदर्शों को अतियों और पथभ्रष्टताओं का शिकार भी होना पड़ता है। जो आदर्श मानवता के लिये अत्यंत कठिन होते हैं

वे सबसे अधिक इनके शिकार होते हैं; और वैराग्यवाद एक धर्मांध आत्म-यंत्रणा का, प्रकृति के कठोरतापूर्ण दमन, जगत से ऊबकर पलायन या जीवन के संघर्ष के आलस्यपूर्ण त्याग और हमारे पुरषत्व से जिस प्रयास की मांग की जाती है उससे दुर्बलतापूर्ण निवृत्ति का रूप ग्रहण कर सकता है। जब इस का अनुसरण केवल वे अपेक्षाकृत थोड़े से लोग ही नहीं करते जिन्हें इसके लिये पुकार प्राप्त हुई है, बल्कि जब इसका उपदेश इसके चरम रूप में सभी को दिया जाता है और हजारों अयोग्य व्यक्ति इसका अवलंबन करते है, तब इसका मूल्य-महत्त्व गिर सकता है, जाली सिक्के बढ़ सकते हैं और समाज की जीवन-शक्ति अपनी नमनशीलता और आगे बढ़ने की क्षमता गंवा सकती है। यह दावा करना निरर्थक होगा कि भारत में ऐसे दोष एवं अनिष्ट परिणाम नहीं उत्पन्न हुए। वैराग्य के आदर्श को मैं मानव जीवन की समस्या का अंतिम हल नहीं मानता। परंतु इसके अतिरंजित रूपों के पीछे भी प्राणात्मवादी अतिरंजना की अपेक्षा, जो कि पश्चिमी संस्कृति के उस छोर के दोष हैं, कहीं महत्तर भावना विद्यमान है।

जो हो, आईये जिस बात पर बल देने की जरूरत है वह यह है कि भारतीय आध्यात्मिकता अपने महत्तम युगों में तथा अपने अंतरतम अर्थ में कोई क्लांतिपूर्ण वैराग्य या रूढ़िभूत संन्यासधर्म नहीं रही है, बल्कि वह कामना और प्राणिक संतुष्टि के जीवन से ऊपर उठकर आध्यात्मिक स्थिरता, महत्ता, शक्ति, प्रकाश, भागवत उपलब्धि, दृढ़प्रतिष्ठ शांति और आनंद की पराकाष्ठा को प्राप्त करने के लिये मानव आत्मा के एक उच्च प्रयास के रूप में रही है। भारत की संस्कृति और आधुनिक मन के उत्कट लौकिक कर्मवाद के बीच प्रश्न यह है कि ऐसा प्रयास मानव की उच्चतम पूर्णता के लिये आवश्यक है या नहीं। और यदि आवश्यक है तो फिर दूसरा प्रश्न यह उठता है कि क्या इसे इनी-गिनी विरली आत्माओं तक सीमित एक असाधारण शक्ति ही बनना है या इसे एक महान् एवं पूर्ण मानव सभ्यता की मुख्य प्रेरणाप्रद चालक-शक्ति भी बनाया जा सकता है।

(भारतीय संस्कृति के आधार – भारतीय संस्कृति पर एक युक्तिवादी आलोचक - अध्याय 1,2,3 से संकलित)

(क्रमशः)

श्री कृष्ण चंद्र बतरा
(18-02-1932 - 25-08-2024)

रविवार 25 अगस्त 2024 को आश्रम परिवार के वरिष्ठ सदस्य श्री कृष्ण चंद्र बतरा ने अपनी पार्थिव जीवन यात्रा पूर्ण की । 28 अगस्त 2024 को आश्रम ध्यानकक्ष में प्रार्थना सभा का आयोजन किया गया जिसमें समस्त आश्रम परिवार की ओर से उन्हें भावपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित की गयी ।

आश्रम-गतिविधियाँ

5 जुलाई 2024

तारा दी का जन्मदिन

श्री अरविन्द आश्रम- दिल्ली शाखा में तारा दीदी का 88 वां जन्मदिन मनाया गया।

दिन की शुरुआत तारा दीदी द्वारा सुबह समाधि लॉन के समीप भूमिमंगलम (वृक्षारोपण) कार्यक्रम में चंदन का वृक्ष लगा कर की गई। आश्रमवासियों के साथ, 'द मदर्स इंटरनेशनल स्कूल' के पूर्व छात्र छात्राओं एवं अतिथियों ने भी वृक्षारोपण कर समारोह में उल्लास पूर्वक भाग लिया । 'द मदर्स इंटरनेशनल स्कूल', 'मीरान्बिका' तथा आश्रम के कई अन्य स्थानों पर भी पेड़ लगाए गए।

दिनभर स्नेहिजनों का ताँता लगा रहा। शाम को भोजन कक्ष में तारा दी द्वारा केक काटा गया । सबकी प्रेमपूर्ण बधाईयों के बाद आश्रम के प्राँगण में पुन: विभिन्न पौधे लगाने के साथ कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

संध्या समय ध्यानकक्ष में भक्ति संगीत के साथ तारा दीदी द्वारा श्रीमाँ की वाणी का सस्वर पाठ किया गया।

11 से 18 अगस्त 2024

श्रीअरविन्द आश्रम – दिल्ली शाखा ट्रस्ट द्वारा 11 से 18 अगस्त तक 8 दिवसीय श्रीअरविन्द राष्ट्रीय एकता शिविर (SANIC 265) का आयोजन किया गया। शिविर में विभिन्न राज्यों से 44 प्रतिभागी शामिल हुए।

13 अगस्त 2024

श्री अरविन्द आश्रम (दिल्ली शाखा) के संस्थापक श्री सुरेन्द्रनाथ जौहर,फ़कीर (चाचाजी) की 121 वीं जन्मतिथि धूमधाम से मनाई गयी।

दिन का प्रारम्भ ध्यान कक्ष में श्रीला दीदी के मंगलाचरण से हुआ। 'फकीर स्थल' में आयोजित हवन का कार्यक्रम वर्षा के कारण स्थगित करना पड़ा। दीपक जला कर ध्यान किया गया । उनकी जीवनी पर आधारित चलचित्र प्रदर्शित की गई। दिन का समापन ध्यान कक्ष में हेमंत, अंजन, लिन्थोई, मिठु पॉल और स्नीला दीदी की संगीतमय श्रद्धांजलि और तारा दीदी के वचन से हुआ।

14 अगस्त 2024

श्री अरविंद आश्रम दिल्ली शाखा के हॉल ऑफ़ ग्रेस में भीलवाड़ा ग्रुप के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री एल.एन झुनझुनवाला के सौजन्य से उनके अनुज श्री डी.एन.झुनझुनवाला जी की स्मृति में श्री अरविंद रचित 'भवानी भारती' पर आधारित नृत्य नाटिका का मंचन सुश्री अंजलि बगल और उनके दल द्वारा किया गया।

15 अगस्त 2024

प्रभु श्री अरविंद का 152 वां जन्म दिवस तथा स्वतंत्रता दिवस

दिन का प्रारम्भ प्रातः प्रभु को याद करते हुए प्रभात फेरी से हुआ जिसमें आश्रमवासी, अतिथिगण और बच्चों-युवाओं ने बड़े उत्साह से भाग लिया। तत्पश्चात श्रीला दीदी ने मंगलाचरण का गायन किया। हेमंत और अंजन के दल द्वारा संगीतमय प्रस्तुति की गई।

डॉ.करण सिंह ने शिव स्तुति और श्री भारत गुप्त ने 'श्री अरविंद के विचारों पर आधारित 'राष्ट्रीय एकता और संगठन' पर सारगर्भित व्याख्यान दिया।

मातृ कला मंदिर के छात्रों ने संगीतमय श्रद्धांजलि प्रदान की। आश्रम के युवाओं और आश्रमवासियों ने चित्तार्षक नृत्य और शारीरिक श्रम के साहसिक के कार्यक्रम प्रस्तुत किये।

संध्या के समय समाधि-स्थल पर परेड और अभीप्सा की ज्योति का आयोजन किया गया।

कार्यक्रम का समापन हेमंत और अंजन के दल द्वारा संगीतमय प्रस्तुति और तारा दीदी के वाचन से हुआ। संध्या समय ध्यानकक्ष में भक्ति संगीत के साथ तारा दीदी द्वारा श्री माँ की वाणी का सस्वर पाठ किया गया।

रविवारीय वार्ताएँ – ध्यान कक्ष में – प्रातः 10 से 11.30

7 जुलाई

डॉ अपर्णा रॉय - भय - योग पथ में बाधा

(Fear - an Obstacle on the Path of Yoga)

भजन – डॉ मैत्रेयी कर्क

14 जुलाई

डॉ मंकुल गोयल -The Realisation of Sachchidananda (Based on Sri Aurobindo's The Synthesis of Yoga; Part 2, Chapter 12)

भजन – सुश्री बसुंधरा मुंशी

21 जुलाई

आचार्य नवनीत -Vision of Purusha- The Divine Being - In the Context of The Gita

भजन –डॉ मिठू पाल

28 जुलाई

डॉ मोनिका गुलाटी -Letting the heart break open

भजन – आदित्य और ऋचा

4 अगस्त

डॉ मिठु पाल - Looking within with certitude (Based on the Mother's prayer dated 8 April 1914 in Prayers and Meditations)

भजन – डॉ मिठू पाल

11 अगस्त

डॉ अपर्णा रॉय - मानव और उसका अहंकार (Man and his Arrogance)

भजन - डॉ मैत्रेयी कर्क

18 अगस्त

राष्ट्रीय एकीकरण पर कार्यशाला

अनेक भाषाओं में देशभक्ति गीत

25 अगस्त

डॉ मंकुल गोयल - The Difficulties of the Mental Being (Based on Sri Aurobindo's The Synthesis of Yoga; Part 2, Chapter 13)

भजन – सुश्री बसुंधरा मुंशी

तारा दीदी का नया पॉडकास्ट रिलीज़

प्रार्थना और ध्यान

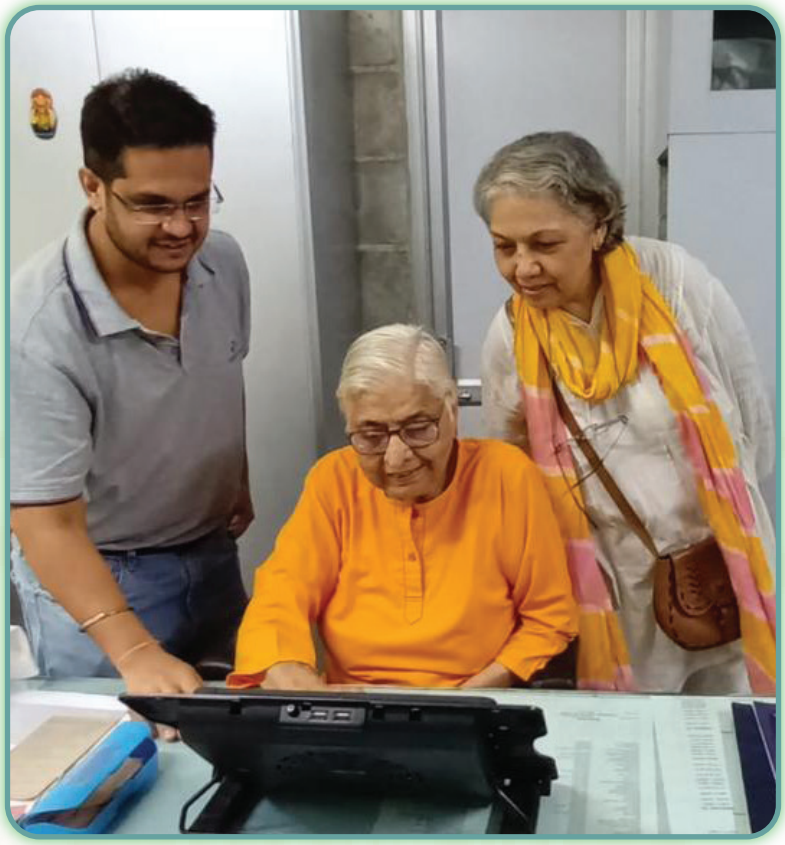

कृष्ण जन्माष्टमी के शुभ अवसर पर निम्नलिखित पॉडकास्ट एपिसोड प्रकाशित किए गए:

Golden Bridge:

Title: Pain is the hammer of the Gods to break

Podcast Link:

https:openspotifycomshow/2OhiMf40jwZMKC3EI5IIwI

Golden Gleanings

Title: The Yogi on the Whirlpool

Podcast Link:

https://open.spotify.com/show/5N73e6wTEuAy6R5iQMMLVT

Prayers and Meditation:

Title: November 2, 1912

Podcast Link:

https://open.spotify.com/show/4vGhLheIOTH709Uw6m2KOD

भगवान स्वयं को उन लोगों को देते हैं
जो उन्हें बिना किसी शर्त के और सर्वांगीण रूप से
अपने को समर्पित कर देते हैं। उनके लिए शांति, प्रकाश, शक्ति,
आनंद, स्वतंत्रता, विशालता, ज्ञान की ऊँचाइयाँ,
आनंद का सागर।